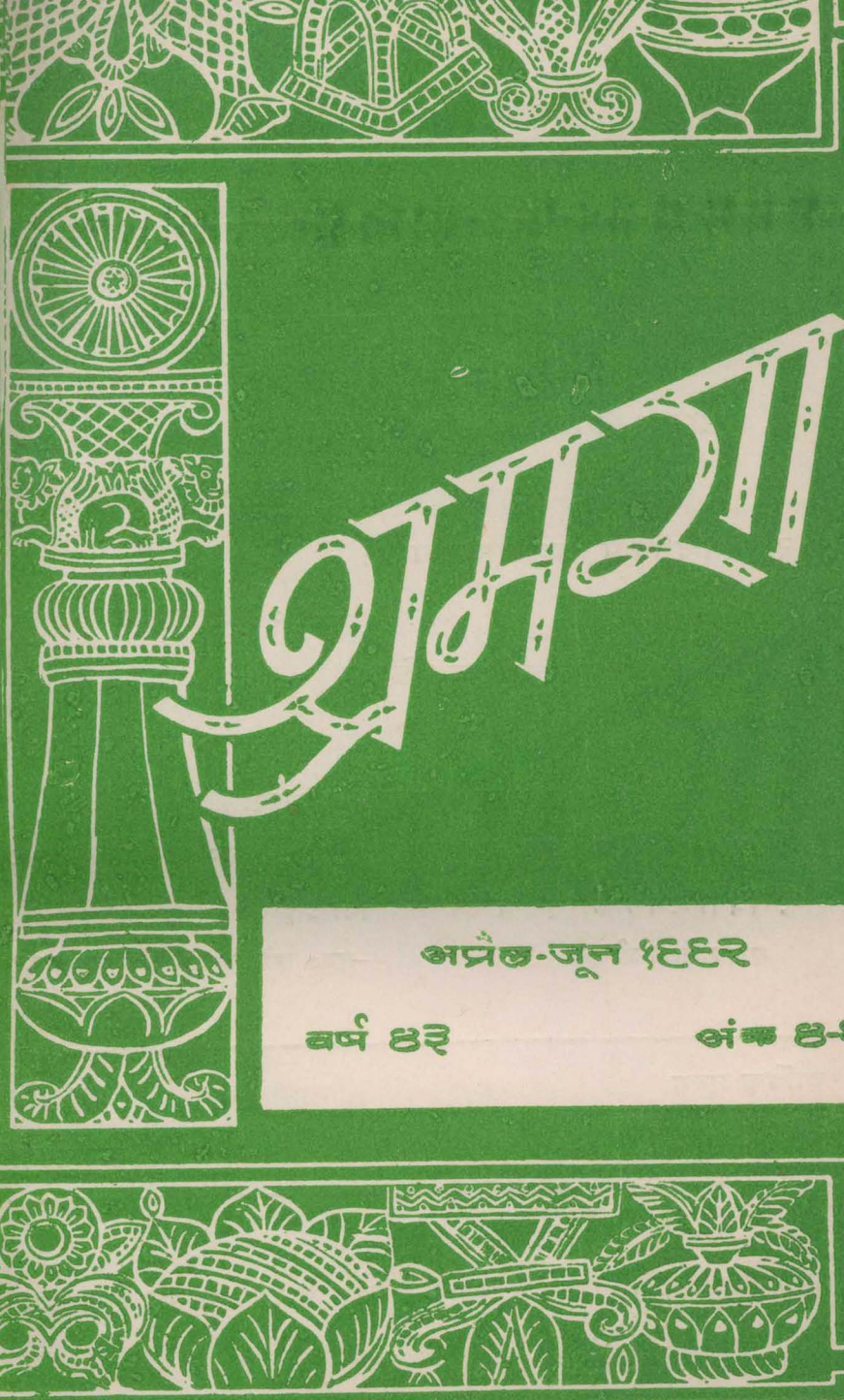

अप्रैल-जून १९९२

वर्ष ४२ अंक ४-६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दलसुख मालवणिया स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-५

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

सम्पादक
डा० अशोक कुमार सिंह

सहसम्पादक
डा० शिवप्रसाद

वर्ष ४३ अप्रैल-जून १९९२ अंक ४-६

प्रस्तुत अंक में

१. गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास
--प्रो० सागरमल जैन १

२. जैन दर्शन में शब्दार्थ सम्बन्ध
--डा० सुदर्शन लाल जैन २७

३. जालिहरगच्छ का संक्षिप्त इतिहास
--डा० शिवप्रसाद ४१

४. प्राकृत जैनागम परम्परा में गृहस्थाचार तथा उसकी पारिभाषिक शब्दावली --डा० कमलेश जैन ४७

५. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित में प्रतिपादित सांस्कृतिक जीवन --डा० उमेशचन्द्र श्रीवास्तव ६९

वार्षिक शुल्क
चालिस रुपये

एक प्रति
दस रुपया

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक अथवा संस्थान सहमत हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गतांक से आगे—

गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास

—प्रो० सागरमल जैन

I

निर्युक्ति एवं श्वे० कर्मसाहित्य के परिप्रेक्ष्य में

पूर्व निबन्ध में हमने गुणस्थान सिद्धान्त के विकास की पूर्व अवस्था के रूप में तत्त्वार्थसूत्र में प्रतिपादित कर्म-निर्जरा के आधार पर आध्यात्मिक विकास की दस अवस्थाओं/गुणश्रेणियों की चर्चा की थी, जिन्हें हम गुणस्थान सिद्धान्त का मूलस्रोत मानते हैं। हम इस सम्बन्ध में अपनी खोज जारी रखे हुए थे कि तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित इन दस अवस्थाओं का आगमिक आधार क्या है? और इन अवस्थाओं का प्राचीनतम उल्लेख किस ग्रंथ में मिलता है? अपनी इस खोज के दौरान हमने श्वेताम्बर मान्य आगम साहित्य का आलोडन किया किन्तु उसमें हमें कहीं भी इन अवस्थाओं का उल्लेख प्राप्त नहीं हो सका। यदि विद्वानों को इसका कोई संकेत भी उपलब्ध हो तो हमें सूचित करें। उसके बाद हमने प्राचीनतम आगमिक व्याख्याओं की दृष्टि से निर्युक्तियों का अध्ययन प्रारम्भ किया और संयोग से आचाराङ्ग निर्युक्ति में सम्यक्त्व पराक्रम नामक चतुर्थ अध्याय की निर्युक्ति में इन दस अवस्थाओं का उल्लेख करने वाली निम्न दो गाथाएँ उपलब्ध हुईं—

सम्मत्तुपत्ती सावए य विरए अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खवए उवसामंते य उवसंते ॥२२॥
खवए य खीणमोहे जिणे अ सेढी भवे असंखिज्जा।
तव्विवरीओ कालो संखिज्जगुणाइ सेढीए ॥२३॥

—आचाराङ्ग निर्युक्ति (निर्युक्ति संग्रह पृ० ४४१)

यदि हम निर्युक्ति साहित्य को तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा प्राचीन मानते हैं तो हमें यह कहना होगा कि तत्त्वार्थसूत्र की इन दस अवस्थाओं का प्राचीनतम स्रोत आचारांग निर्युक्ति ही है। यद्यपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचाराङ्ग निर्युक्ति में जिस स्थल पर ये गाथाएँ हैं, उन्हें देखते हुए ऐसा लगता है कि ये गाथाएँ मूलतः निर्युक्तिकार की नहीं हैं अपितु पूर्व साहित्य के किसी कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थ से इन गाथाओं को इसमें अवतरित किया गया है क्योंकि सम्यक्त्व-पराक्रम की चर्चा के प्रसंग में ये गाथाएँ बहुत अधिक प्रासङ्गिक नहीं लगती हैं। फिर भी गुणश्रेणी की अवधारणा का अभी तक जो भी प्राचीनतम स्रोत उपलब्ध है, वह तो यही है। इन दोनों गाथाओं में कर्म-निर्जरा की क्रमिक अधिकता की दृष्टि से निम्न दस अवस्थाओं का चित्रण हुआ है—

१. सम्यक्त्वोत्पत्ति, २. श्रावक, ३. विरत, ४. अनन्तवियोजक (अणंतकम्मंसे), ५. दर्शनमोहक्षपक, ६. उपशमक, ७ उपशान्त, ८. क्षपक, ९ क्षीणमोह और १०. जिन।

इन दश अवस्थाओं का गुणस्थान सिद्धान्त से किस रूप में सम्बन्ध है और कितनी समानता और विभिन्नता है इसकी विस्तृत चर्चा तो हम पूर्व निबन्ध में कर चुके हैं फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से इस संबन्ध में संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। गुणस्थान सिद्धान्त की १४ अवस्थाओं में से मिथ्या दृष्टि, सास्वादन और मिश्र या सम्यक् मिथ्या दृष्टि—इन तीन अवस्थाओं की चर्चा इसमें नहीं है। इसकी प्रथम सम्यक्त्वोत्पत्ति नामक अवस्था गुणस्थान सिद्धान्त के औपशमिक सम्यक् दृष्टि के समान है। इसी प्रकार दूसरी और तीसरी श्रावक और विरत अवस्था गुणस्थान सिद्धान्त के पाँचवें देशव्रत और छठें प्रमत्त संयत गुणस्थान के समान हैं। अनन्तवियोजक को सातवें अप्रमत्त संयत गुणस्थान से तुलनीय माना जा सकता है क्योंकि इस अवस्था में क्षायिक सम्यक् दृष्टि की प्राप्ति के लिए साधक यथा-प्रवृत्तिकरण आदि तीन करण करता है। किन्तु इसकी पाँचवीं अवस्था दर्शनमोहक्षपक की तुलना अपूर्वकरण नामक आठवें गुण-स्थान करण से नहीं की जा सकती। इसकी कषाय उपशम और उपशांतकषाय अवस्थाओं को दसवें और ग्यारहवें गुणस्थान से तुलनीय माना जा सकता है। अगली दो अवस्थाएँ क्षपक और क्षीणमोह में क्षपक का गुणस्थान सिद्धान्त में कोई उल्लेख नहीं मिलता है यद्यपि क्षीणमोह बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान के समान ही है। जिन अवस्था को हम सयोगी केवली की अवस्था कह सकते हैं किन्तु इसमें अयोगी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवली का कोई उल्लेख नहीं है। गुणस्थान सिद्धान्त में जो उपशम श्रेणी और क्षायिक श्रेणी की दृष्टि से अलग-अलग चर्चा की जाती है उसका इस अवधारणा में अभाव है। वस्तुतः इस अवधारणा में उपशम और क्षायिक श्रेणियों को अलग-अलग न करके यह माना गया कि उपशम के बाद ही क्षायिक भाव उत्पन्न होता है। सम्यक्त्व-उत्पत्ति, श्रावक और विरत ये तीनों अवस्थाएँ औपशमिक सम्यक् दर्शन और व्यवहार चारित्र की सूचक हैं। एक दृष्टि से हम इन्हें दर्शनमोह उपशमक और दर्शनमोह उपशान्त की अवस्था कह सकते हैं। अनन्तवियोजक और दर्शनमोह क्षपक को हम क्षायिक सम्यक् दर्शन की उत्पत्ति और दर्शनमोह के क्षीण होने की अवस्था कह सकते हैं। आगे जो चार अवस्थाएँ कही गयी हैं वे चारित्र मोह की दृष्टि से हैं। कषाय-उपशमक, कषाय-उपशांत, कषाय-क्षपक और क्षीणकषाय या क्षीणमोह। इन चारों अवस्थाओं का सम्बन्ध अनन्तानुबंधी को छोड़कर कषायचतुष्क की अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन चौकड़ी को और नोकषायों का पहले उपशम फिर क्षय करने से है। इन अवस्थाओं में उपशमक और उपशान्त क्षपक और क्षीण—इनका स्पष्ट और अलग-अलग उल्लेख होने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह अवधारणा उपशम और क्षायिक को अलग-अलग न मानकर उपशम के पश्चात् क्षायिक श्रेणी से विकास की चर्चा करती है। इस समग्र चर्चा का निष्कर्ष यह है कि गुणस्थान सिद्धान्त की अवधारणा इन दस अवस्थाओं का ही एक विकसित रूप है। इन दस अवस्थाओं को हम गुणस्थान सिद्धान्त के बीज की संज्ञा दे सकते हैं। इन अवस्थाओं को श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में गुणश्रेणी के नाम से जाना जाता है। यहाँ गुण शब्द का प्रयोग सामान्यतया कर्म वर्गणा के पुद्गलों के लिए हुआ है। मेरी दृष्टि में इसी गुणश्रेणी से ही गुण सिद्धान्त का विकास हुआ है।

आध्यात्मिक विकास या गुणश्रेणियों की इन दश अवस्थाओं की चर्चा का प्राचीनतम उपलब्ध आधार आचारांग निर्युक्ति को मानने पर यह शंका उपस्थित होती है कि निर्युक्तियाँ तो द्वितीय भद्रबाहु (वराहमिहिर के भाई) की रचनायें हैं। उनका काल विद्वान् लोग ईसा की पाँचवीं शताब्दी मानते हैं। जबकि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईसा की प्रथम शताब्दी से तृतीय शताब्दी के बीच की रचना माना जाता है अतः यह मानना होगा कि इन दश अवस्थाओं का सर्वप्रथम चित्रण तत्त्वार्थसूत्र में ही हुआ है। किन्तु यह मान्यता भी निर्दोष नहीं हो सकती क्योंकि परम्परागत दृष्टि से तो निर्युक्तियों को भद्रबाहु प्रथम की ही कृति माना जाता है यद्यपि निर्युक्तियों को प्रथम भद्रबाहु की कृति मानने पर दो समस्याएं उपस्थित होती हैं—प्रथम तो यह कि स्वयं दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति में ही निर्युक्तिकार छेदसूत्रों के कर्ता प्राचीन गोत्रीय भद्रबाहु को प्रणाम करता है। यदि छेदसूत्रों के कर्ता भद्रबाहु प्रथम ही निर्युक्तियों के रचनाकार हैं तो वे स्वयं अपने को कैसे प्रणाम कर सकते हैं? दूसरी बाधा यह है कि आवश्यक निर्युक्ति में वी०नि०सं० १८५ तक होने वाले सात निह्नवों का उल्लेख आया है साथ ही इसमें आर्यरक्षित (वीर निर्वाण सं० ५८४) का उल्लेख भी है[२] जबकि आचार्य भद्रबाहु का स्वर्गवास तो वीर नि० सं० १७० अर्थात् ई० पू० तृतीय शती में ही हो जाता है। वे अपने से लगभग ४०० वर्ष बाद अर्थात् वीर निर्वाण ५८४ में होने वाले निह्नवों और आर्यरक्षित का उल्लेख कैसे कर सकते हैं?

इसलिये विद्वानों ने यह माना कि निर्युक्तियाँ भद्रबाहु द्वितीय की रचनाएं हैं किन्तु निर्युक्तियों को वराहमिहिर के भाई भद्रबाहु की कृतियाँ मानने में भी कई कठिनाइयाँ हैं। यदि हम यह मानते हैं कि ईस्वी सन् की पाँचवीं शताब्दी में होने वाले भद्रबाहु वराहमिहिर के भाई हैं तो सबसे पहला प्रश्न यह उठेगा कि वीर नि० सं० ६०९ अर्थात् ईस्वी सन् द्वितीय शती में होने वाले बोटिक निह्नव की चर्चा इसमें क्यों नहीं है? दूसरे यह कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी के अन्त तक तो गुणस्थान की अवधारणा स्पष्ट रूप से आ गई थी उनका अन्तर्भाव निर्युक्तियों में क्यों नहीं हो पाया, जबकि आचारांग निर्युक्ति तत्त्वार्थ के समान मात्र दश अवस्थाओं की ही

---

१. वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसयलसुयनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं दसासु कप्पे य ववहारे॥
——दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति गाथा——१

२. देखें——आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ७७४-७८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चर्चा करती है वह परवर्ती ११ गुणश्रेणियों अथवा १४ गुणस्थानों की चर्चा क्यों नहीं करती है ? निर्युक्तियों में उपलब्ध विषयवस्तु की दृष्टि से हमें यही मानना होगा कि वे लगभग ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी की रचना है। पुनः वीर नि० सं० ५८५ तक होने वाले निह्नवों का उल्लेख और वीर नि० सं० ६०९ में होने वाले बोटिक शिवभूति का अभाव यही सिद्ध करता है कि निर्युक्तियाँ वीर नि० संवत् ६०९/ई० सन् १४२ के पूर्व लिखी गई हैं इस प्रकार वे ई० सन् की द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में लिखी गई हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या इस काल में कोई भद्रबाहु हुए हैं ? हमने कल्पसूत्र की पट्टावली का अध्ययन करने पर यह पाया कि आर्य कृष्ण और आर्य शिवभूति, जिनके बीच सचेलता और अचेलता के प्रश्न को लेकर विवाद हुआ था और बोटिक संप्रदाय की उत्पत्ति हुई थी, के समकालिक एक आर्यभद्र हुए हैं। ये आर्य शिवभूति के शिष्य थे -- ये आर्य नक्षत्र एवं आर्य रक्षित से ज्येष्ठ थे[1] और इनका काल ई० सन् की द्वितीय-तृतीय शताब्दी ही रहा है। अतः यह मानना होगा कि निर्युक्तियाँ इन्हीं आर्य भद्र की रचनाएँ हैं और आगे चलकर नाम साम्य और भद्रबाहु की प्रसिद्धि के कारण उनकी रचनाएँ मानी जाने लगीं। जिस प्रकार प्रबन्धों के लेखकों ने प्राचीन भद्रबाहु और वराहमिहिर के भाई भद्रबाहु के कथानक मिला दिये हैं उसी प्रकार निर्युक्तिकार आर्यभद्र से भद्रबाहु की एकरूपता कर ली गई।

पुनः निर्युक्ति साहित्य में गुणस्थान की अवधारणा की अनुपस्थिति तत्त्वार्थ के समान दश गुणश्रेणियों का उल्लेख यही सिद्ध करता है कि वे तत्त्वार्थसूत्र की समकालिक अथवा उससे क्वचित् पूर्ववर्ती रचनाएँ

---

१. थेरस्स णं अज्जफग्गुमित्तस्स गोयमसगुत्तस्स अज्जधणगिरी थेरे अंतेवासी वासिठ्ठसगुत्ते थेरस्स णं अज्जधणगिरिरस वासिठ्ठसगुत्तस्स अज्जसिवभूईथेरे अंतेवासी कुच्छसगुत्ते। थेरस्स णं अज्जसिवभूइस्स कुच्छसगुत्तस्स अज्जभद्दे थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते। थेरस्स णं अज्जभद्दस्स कासवगुत्तस्स अज्जनक्खत्ते थेरे अंतेवासी कासवगुत्ते।
--कल्पसूत्र प्रका० श्री हंस विजय जैन फ्री लायब्रेरी लुणसावाडा, अहमदाबाद पृ० १९५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। पुनः प्रज्ञापना जैसे विकसित आगम में गुणस्थान सिद्धान्त के साथ-साथ आध्यात्मिक विकास की इन १० गुणश्रेणियों की चर्चा का अभाव है। प्रज्ञापना का रचनाकाल विद्वानों ने ई० सन् की प्रथम शताब्दी माना है अतः हमें यह मानना होगा कि निर्युक्तियाँ ई० सन् की द्वितीय शताब्दी से लेकर तृतीय शताब्दी के पूर्व निर्मित हुई हैं अतः उन्हें आर्यभद्र की रचना मानकर ई० सन् की द्वितीय शताब्दी के प्रथम चरण में रखना अनुपयुक्त नहीं होगा।

यहाँ कोई यह प्रश्न उठा सकता है कि आवश्यकनिर्युक्ति की प्रतिक्रमण निर्युक्ति में गाथा सं० १२८७ के पश्चात् की दो गाथाओं में चौद्दसभूतगामेहिं के बाद १४ गुणस्थानों के नामों का उल्लेख मिलता है लेकिन ये दोनों गाथाएँ जिनमें १४ गुणस्थानों का उल्लेख हुआ है, प्रक्षिप्त हैं और इनकी गणना आवश्यकनिर्युक्ति की गाथाओं में नहीं की जाती है। आवश्यक निर्युक्ति की आठवीं शताब्दी की हरिभद्र की टीका में इन गाथाओं को निर्युक्ति गाथा के रूप में नहीं माना गया है। अपितु जीव समास की चर्चा के प्रसंग में इन्हें किसी संग्रहणी गाथा के रूप में उद्धृत किया गया है[1] अतः यह सुस्पष्ट है कि निर्युक्ति साहित्य में १४ गुणस्थान की अवधारणा पूर्णतया अनुपस्थित है और उनमें तत्त्वार्थ के समान ही दस ही गुणश्रेणियों की चर्चा है।

जैसा कि हमने संकेत किया है कि आचारांगनिर्युक्ति में उपलब्ध कर्म निर्जरा के आधार पर आध्यात्मिक विकास की चर्चा करने वाली ये गाथाएँ निर्युक्तिकार की न होकर कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी पूर्व साहित्य के किसी ग्रन्थ से ली गई हैं। यद्यपि यह निर्युक्ति गाथा के रूप में मान्य है। जिस प्रकार ये गाथाएँ षट्खंडागम के वेदना खंड की चूलिका में अवतरित की गईं और वहीं से आगे धवला टीका और गोम्मटसार में भी गई हैं उसी प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में भी कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी, किसी प्राचीन ग्रंथ का अंश होकर वहाँ से निर्युक्तियों में और कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी प्राचीन और अर्वाचीन कर्मग्रन्थों में तथा पंचसंग्रह में ये गाथायें अवतरित की जाती रहीं

---

१. देखें – आवश्यक निर्युक्ति (हरिभद्रीय टीका) भाग २ पृ० १०७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। निर्युक्ति के पश्चात् श्वेताम्बर परम्परा में ये गाथाएँ क्वचित् पाठभेद के साथ शिवशर्मसूरि (ई० सन् पाँचवीं शती) प्रणीत कर्म प्रकृति में उपलब्ध होती हैं[1]।

प्रस्तुत गाथाएँ आवश्यकनिर्युक्ति और षट्खंडागम में अवतरित गाथाओं के समान हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ हम विशेष चर्चा करना आवश्यक नहीं समझते हैं केवल इतना ही बता देना पर्याप्त है कि इस शिवशर्मसूरि की कर्मप्रकृति में इनका अवतरण प्रासंगिक है। साथ ही इनकी इतनी विशेषता अवश्य है कि इसमें 'जिणे य दुविहे' कहकर सयोगी और अयोगी ऐसे दो प्रकार के जिनों की अवधारणा आ गई है और इस प्रकार इनमें १० के स्थान पर ११ गुणश्रेणियाँ मान ली गई हैं। अतः इनकी स्थिति षट्खण्डागम के व्याख्या सूत्रों के अनुरूप है।

शिवशर्मसूरि की कर्मप्रकृति के पश्चात् ये गाथाएँ क्वचित् पाठभेद के साथ पुनः चन्द्रर्षि कृत पंचसंग्रह (ई० सन् आठवीं शताब्दी के पूर्व) के बन्धद्वार के उदय निरूपण में मिलती हैं, वहाँ ये निम्न रूप में प्रस्तुत हैं—

संमत्तदेससंपुन्नविरइउप्पत्तिअणविसंजोगे ।
दंसणखवणे मोहस्स, समणे उवसंत खवगे य ॥
खीणाइतिगे अस्संखगुणियगुणसेढिदलिय जहकमसो ।
सम्मत्ताईणेक्कारसण्ह कालो उ संखसे ॥
— पंचसंग्रह बन्धद्वार, उदयनिरूपण गाथा ११४-११५

यहाँ भी क्वचित् पाठभेद को छोड़कर ये गाथाएँ समान ही हैं। नामों की दृष्टि से यहाँ १. सम्यक्त्व, २. देशविरत, ३. सर्वविरत, ४. अनन्तानुबन्धी विसंयोजक (अणविसंजोगे), ५. दर्शनमोहक्षपक,

१. सम्मत्तुप्पा सावय विरए संजोयणाविणासे य ।
दंसणमोहक्खवगे कसाय उवसामगुवसंते ॥
खवगे य खीणमोहे जिणे य दुविहे असंखगुणा ।
उदयो तव्विवरीओ कालो संखेज्जगुणसेढी ॥
—कर्म प्रकृति (उदयकरण) गाथा ३९४-५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. (कषाय शमक) उपशान्त ७. क्षपक ८-१०. क्षीण, आदि-त्रिक् अर्थात् क्षीणमोह, सयोगी केवली और अयोगी केवली।

इन गाथाओं की विशेषता यह है कि इनके अन्त में सम्यक्त्व आदि एकादश गुणश्रेणियों का उल्लेख है। ये एकादश गुणश्रेणियाँ केवली के सयोगी और अयोगी ऐसे दो विभाग करने पर ही बनती हैं। संभवतः पांचवीं-छठीं शताब्दी के पश्चात् गुणस्थान सिद्धान्त में सयोगी और अयोगी अवधारणा के आने पर जिन नामक दसवीं अवस्था के विभाजन से गुणश्रेणी की संख्या १० से बढ़कर ११ हो गई और वह दोनों ही परम्पराओं में संरक्षित होती रही।

श्वेताम्बर परम्परा में इन ११ गुणश्रेणियों का हमें अन्तिम उल्लेख देवेन्द्रसूरि विरचित अर्वाचीन कर्मग्रन्थों में शतक नामक पञ्चम कर्मग्रन्थ में ८२ वीं गाथा में प्राप्त होता है जो कि निम्न रूप में है—

सम्मदरससव्वविरई उ अणविसंजोयदंसखवगे य।
मोहसमसंतखवगे, खीणसजोगियर गुणसेढी॥

प्रस्तुत गाथा की विशेषता यह है कि इसमें दो गाथाओं के विवरण को संक्षिप्त सांकेतिक शब्दों के आधार पर एक ही गाथा में समाहित कर दिया गया है जैसे सम्यग् दृष्टि के लिए सम्म, देशव्रती के लिए दर, अनन्त-विसंयोजक के लिए अणविसंजोय, दर्शन मोहक्षपक के लिए दंसखवगे आदि इस प्रकार के संक्षिप्त शब्दों का प्रयोग हुआ है इसी प्रकार उपशम के लिए केवल शम, उपशांत के लिए केवल संत और क्षीणमोह के लिए केवल खीण शब्द का प्रयोग किया गया है किन्तु जिन के स्थान पर सजोगी और इतर ऐसी दो अवस्थाओं का संकेत किया गया है।

देवेन्द्रसूरि की विशेषता यह है कि उन्होंने इस गाथा की स्वोपज्ञ टीका में इन संक्षिप्त शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करने के साथ-साथ इन एकादश गुणश्रेणियों का न केवल स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है अपितु इन गुणश्रेणियों की गुणस्थान की अवधारणा से निकटता भी सूचित की है। साथ ही इसके भावार्थ को भी टीका में स्पष्ट किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इस प्रकार गुणस्थान सिद्धान्त के बीज रूप इन गुणश्रेणियों का उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा में आचारांग निर्युक्ति से लेकर नवीन कर्म ग्रन्थों तक अर्थात् ई० सन् की दूसरी शताब्दी से लेकर १३वीं शताब्दी तक निरन्तर रूप से मिलता है। इन गुणश्रेणियों का गुणस्थान सिद्धान्त से क्या सम्बन्ध है यह भी देवेन्द्रसूरि की टीका से स्पष्ट हो जाता है और इससे हमारी इस अवधारणा की पुष्टि होती है कि गुणस्थान सिद्धान्त का आधार कर्मनिर्जरा के आधार पर सूचित करने वाली ये गुणश्रेणियाँ ही हैं।[1]

---

१. गुणश्रेणयः एकादश भवन्तीति सम्बन्धः। कुत्र कुत्र ? इत्याह—"सम्मदरसव्वविरई उ" इत्यादि। तत्र "सम्म" त्ति सम्यक्त्वं—सम्यग्दर्शनं तल्लाभे एका गुणश्रेणिः। तथा विरतिशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् दरविरतिः—देशविरतिस्तल्लाभे द्वितीया गुणश्रेणिः। सर्वविरतिः—सम्पूर्णविरतिस्तल्लाभे तृतीया गुणश्रेणिः। "अणविसंजोय" त्ति अनन्तानुबन्धिविसंयोजनायां चतुर्थी गुणश्रेणिः। "दंसखवगे" त्ति पदैकदेशे पदप्रयोगदर्शनाद् दर्शनस्य—दर्शनमोहनीयस्य क्षपको दर्शनक्षपकस्तत्र तद्विषया पञ्चमी गुणश्रेणिः। चशब्दः समुच्चये। "मोहसम" त्ति मोहस्य—मोहनीयस्य शमः—शमक उपशमकः स चोपशमश्रेण्यारूढोऽनिवृत्तिबादरः सूक्ष्मसम्परायश्चाभिधीयते, तत्र मोहशमे षष्ठी गुणश्रेणिः। "संत" त्ति शान्तः—उपशान्तमोहगुणस्थानकवर्ती तत्र सप्तमी गुणश्रेणिः। "खवगि" त्ति क्षपकः—क्षपकश्रेण्यारूढोऽनिवृत्तिबादरः सूक्ष्मसम्परायश्च निगद्यते, तत्र क्षपकेऽष्टमी गुणश्रेणिः। "खीण" त्ति क्षीणः—क्षीणमोह[स्त]स्य नवमी गुणश्रेणिः। "सजोगि" त्ति सयोगिकेवलिनो दशमी गुणश्रेणिः। "इयर" त्ति अयोगिकेवलिन एकादशी गुणश्रेणिरिति गाथाक्षरार्थः।—शतकनामा पञ्चम कर्मग्रन्थ, पृ० ९४, श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगर, सन् १९४०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

II

कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा के परिप्रेक्ष्य में

कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा का मूलभूत विषय तो जैन परम्परा में सुप्रचलित १२ अनुप्रेक्षाओं अथवा १२ भावनाओं का विवेचन करना है किन्तु उसमें इस विवेचन के अन्तर्गत यथाप्रसंग जैन परम्परा के, धर्म-दर्शन के सभी पक्षों को समाहित कर लिया गया है। जिस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र सात तत्त्वों को आधार बनाकर जैन परम्परा के सम्पूर्ण तत्त्व ज्ञान की चर्चा करता है, उसी प्रकार कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में भी जैन तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, सृष्टिस्वरूप, मुनि-आचार, श्रावक-आचार आदि सभी पक्षों की चर्चा है।

हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि उसमें कहीं भी गुणस्थान सिद्धान्त की चर्चा नहीं है और न उपशम श्रेणी और न क्षायिक श्रेणी के अलग-अलग विकास की बात कही गयी है। गुणस्थान सिद्धान्त के अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण आदि जो विशिष्ट नाम हैं, उसका भी उनमें कोई उल्लेख नहीं है। यदि संक्षेप में कहें तो उसमें गुणस्थान की अवधारणा का अभाव है किन्तु जिस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थान की अवधारणा का अभाव होते हुए भी कर्मनिर्जरा के आधार पर सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत आदि दस अवस्थाओं का चित्रण है उसी प्रकार कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में भी निर्जरा-अनुप्रेक्षा के अन्तर्गत कर्म-निर्जरा के आधार पर निम्न १२ अवस्थाओं का चित्रण हुआ है[1]—

१. कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा—स्वामिकुमार, टीका शुभचन्द्र, सं० डा० ए० एन० उपाध्ये, परमश्रुत प्रभावक मण्डल श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, वि० सं० १९७८ ई०।

मिच्छादो सद्दिट्ठी असंख-गुण-कम्म-णिज्जरा होदि।
तत्तो अणुवयधारी तत्तो य महव्वई णाणी॥
पढम-कसाय-चउण्हं विजोजओ तह य खवय-सीलो य।
दंसण-मोह-तियस्स य तत्तो उवसमग-चत्तारि॥
खवगो य खीण-मोहो सजोइ-णाहो तहा अजोईया।
एदे उवरिं उवरिं असंख-गुण-कम्म-णिज्जरया॥ ९।१०६-१०८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. मिथ्यात्वी, २. सम्यग्दृष्टि (सदृष्टि), ३. अणुव्रतधारी, ४. महाव्रती, ५. प्रथमकषायचतुष्कवियोजक, ६. क्षपकशील, ७. दर्शनमोहत्रिक (क्षीण), ८. कषायचतुष्कउपशमक, ९. क्षपक, १०. क्षीणमोह ११ सयोगीनाथ और १२. अयोगीनाथ।

उपर्युक्त १२ अवस्थाओं में एक-दो नामों में कुछ अन्तर को छोड़कर दस वही हैं जिनका उल्लेख हमें आचारांग निर्युक्ति और तत्त्वार्थसूत्र में मिलता है। इसमें दो नाम जो अधिक हैं—वे मिथ्यादृष्टि और अयोगी केवली हैं। इनमें भी मिथ्यादृष्टि तो तुलना की दृष्टि से दिया गया है अतः ११ अवस्थायें या गुणश्रणियाँ ही शेष रहती हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ आचारांगनिर्युक्ति और तत्त्वार्थसूत्र के पश्चात् का है। आगे हम देखेंगे कि षट्खण्डागम के वेदना खण्ड की चूलिका में जो गाथायें दी गई हैं, उनमें आचारांगनिर्युक्ति और तत्त्वार्थसूत्र के अनुरूप दस अवस्थाओं का ही चित्रण है किन्तु चूलिका में उक्त गाथाओं को उद्धृत करके जो व्याख्यासूत्र बनाये गये हैं उनमें जिन के सयोगी केवली और अयोगी केवली ऐसे दो विभाग करके ११ अवस्थाओं / गुणश्रेणियों का चित्रण हुआ है। धवलाटीका में तो स्पष्ट रूप से ११ की संख्या का उल्लेख भी है। कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में इन ११ अवस्थाओं के साथ मिथ्यात्व का भी स्पष्ट उल्लेख होने से कुल १२ अवस्थायें हो जाती हैं। यद्यपि यहाँ मिथ्यात्व शब्द का प्रयोग कर्म निर्जरा की सापेक्षिक अधिकता को बताने की दृष्टि से ही हुआ है, उसे गुणश्रेणी मानना ग्रन्थकार को इष्ट नहीं है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि आचारांगनिर्युक्ति, तत्त्वार्थसूत्र और षट्खण्डागम में अवतरित चूलिका गाथाओं में जहाँ श्रावक और विरत नाम आये हैं वहाँ कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में क्रमशः उनके लिए अणुव्रतधारी और ज्ञानी महाव्रती ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। 'अणंतकम्मंसे' एवं अनन्तवियोजक शब्द के स्थान पर इसमें प्रथमकषायचतुष्कवियोजक शब्द का प्रयोग हुआ है। यद्यपि इस शब्द वैभिन्न्य से अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता है किन्तु स्पष्ट अर्थवाची शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से इसे एक विकास तो माना जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि हम क्षपणशील और दर्शनमोहत्रिक (क्षीण) इन दोनों को अलग-अलग करते हैं तो यहाँ एक अवस्था बढ़ जाती है क्योंकि आचारांगनिर्युक्ति, तत्त्वार्थ आदि में दर्शनमोहक्षपक नामक एक ही अवस्था का चित्रण है। दर्शनमोहक्षपक और दर्शनमोहक्षीण ऐसी दो अवस्थाओं का चित्रण नहीं है। किन्तु यदि हम "तह य खवयसीलो य दंसणमोह तियस्स य" इस सम्पूर्ण पद को समास पद मानकर एक मानते हैं तो इसका अर्थ होगा—दर्शनमोहत्रिक क्षपणशील और ऐसी स्थिति में इसे दर्शनमोहक्षपक से तुलनीय माना जा सकता है किन्तु आगे चलकर जहाँ आचारांगनिर्युक्ति तत्त्वार्थ आदि में कषायउपशमक उपशान्तकषाय, क्षपक और क्षीणमोह ऐसी चार अवस्थाओं का चित्रण है वहाँ कार्तिकेयानुप्रेक्षा में उपशमक, क्षपक और क्षीणमोह ऐसी तीन ही अवस्थाओं का चित्रण मिलता है। इसमें उपशान्तमोह का कहीं कोई उल्लेख नहीं है अतः यहाँ एक अवस्था कम हो जाती है उसमें उपशमक, क्षपक और क्षीणमोह ये तीन ही अवस्थायें शेष रहती हैं। अन्त में आचारांगनिर्युक्ति, तत्त्वार्थ आदि में जहाँ जिनका उल्लेख हुआ है वहाँ कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में कषायपाहुड़ और षट्खंडागम वेदनाखण्ड की चूलिका के व्याख्यासूत्रों के अनुरूप सयोगीकेवली और अयोगीकेवली ऐसी दो अलग-अलग अवस्थाओं का उल्लेख हुआ है। हो सकता है कि इसकी संख्या को यथावत् रखने के लिए कार्तिकेयानुप्रेक्षा में जहाँ एक ओर सयोगी और अयोगीकेवली का भेद किया गया वहीं दूसरी ओर उपशान्त अवस्था को छोड़ दिया गया हो। इस तुलनात्मक विवरण के विवेचन के पश्चात् नामों की स्पष्टता तथा सयोगी और अयोगी अवस्थाओं के विभाजन के आधार पर हम कह सकते हैं कि कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा का यह विवरण आचारांगनिर्युक्ति और तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा क्वचित् परवर्ती है और कसायपाहुड़ और षट्खण्डागम चूलिका के व्याख्यासूत्रों के समकालिक प्रतीत होता है। फिर भी १४ गुणस्थानों का स्पष्ट उल्लेख न होने के कारण हम कह सकते हैं कि यह कषायपाहुड़ का समकालिक और षट्खण्डागम का पूर्ववर्ती है। पुनः इसमें वर्णित ये दस अवस्थायें गुणस्थान सिद्धान्त से सम्बन्धित हैं, इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मूल ग्रन्थ में उपशान्तकषाय अवस्था का चित्रण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है किन्तु शुभचन्द्र की टीका में उस अवस्था का उल्लेख किया है। टीका में मिथ्यात्व अवस्था का परिगणन नहीं करके ११ अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है।[1] साथ ही टीकाकार ने अयोगी केवली की चर्चा न कर स्वस्थानकेवली और समुद्घात केवली ऐसे दो स्थानों की चर्चा की है। यद्यपि षट्खण्डागम के व्याख्या ग्रन्थों में यथाप्रवृत्ति केवली और योगनिरोध केवली ऐसे दो स्थानों की चर्चा हुई है किन्तु टीकाकार (शुभचन्द्र ने) योगनिरोध केवली की जगह समुद्घात केवली की चर्चा की है। ज्ञातव्य है कि समुद्घात केवली का अन्तर्भाव सयोगी केवली में होता है, अयोगी केवली में नहीं होता यह कार्तिकेयानुप्रेक्षा के टीकाकार की अपनी विशेषता है।[2]

यदि हम कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में गुणस्थान सिद्धान्त के उल्लेख के अभाव तथा इसमें कर्मनिर्जरा के आध्यात्मिक विकास की ११ अवस्थाओं के चित्रण की उपस्थिति की दृष्टि से इस ग्रन्थ का काल निर्धारण करें तो वह चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध और पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच का प्रतीत होता है। कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में प्रतिपाद्य विषयों का जो सरल और सुस्पष्ट विवरण है उसके आधार पर तथा उसकी भाषा की प्राचीनता के आधार पर उसे इस अवधि का मानने में सामान्य रूप से कोई बाधा नहीं आती। दिगम्बर परम्परा में १२ अनुप्रेक्षाओं का स्वतन्त्र विवरण देने वाले दो ग्रन्थ हैं—प्रथम—कुमार स्वामी का बारस्साणुवेक्खा अपरनाम कार्तिकेयानुप्रेक्षा और दूसरा—आचार्य कुन्दकुन्द का बारस्साणुवेक्खा।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा और कुन्दकुन्द की द्वादशानुप्रेक्षा का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम यह पाते हैं कि कुन्दकुन्द के द्वादशानुप्रेक्षा में स्पष्ट रूप से निश्चयनय की प्रधानता और दार्शनिक गम्भीरता है जबकि कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में इस प्रकार की कोई चर्चा नहीं है। इससे कुन्दकुन्द के द्वादशानुप्रेक्षा की अपेक्षा कार्तिकेयानुप्रेक्षा की प्राचीनता सिद्ध होती है। प्रो० ए० एन० उपाध्ये ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा की भाषा की तुलना करके उसकी भाषा को प्रवचनसार के निकट

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा पूर्वोक्त ९।१०६-१०८

२. वही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बताया है। अतः कार्तिकेयानुप्रेक्षा को अधिक परवर्ती नहीं माना जा सकता। मेरी दृष्टि में यह कुन्दकुन्द के पूर्व की है क्योंकि कुन्दकुन्द के द्वादशानुप्रेक्षा की अपेक्षा भाषा, प्रस्तुतिकरण की शैली, विषय-वस्तु की सरलता आदि की दृष्टि से यह प्राचीन ही सिद्ध होती है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कुन्दकुन्द के नाम से प्रचलित द्वादशानुप्रेक्षा स्वयं उनकी ही रचना है? यह विवादास्पद प्रश्न है। यद्यपि निश्चयनय की प्रधानता की दृष्टि से उसे कुन्दकुन्द की रचना माना जा सकता है। ग्रन्थ के अन्त में मुनिनाथ कुन्दकुन्द ने ऐसा कहा, इस प्रशस्ति गाथा की उपस्थिति इसके कुन्दकुन्द का ग्रन्थ होने में बाधक बनती है क्योंकि कुन्दकुन्द स्वयं अपने को मुनिनाथ नहीं कह सकते। इस स्थिति में या तो हमें इस प्रशस्ति गाथा को प्रक्षिप्त मानना होगा या फिर यह मानना होगा कि कुन्दकुन्द के विचारों को आत्म-सात करते हुए उनके किसी निकट शिष्य ने इसकी रचना की है।

पुनः कुन्दकुन्द के कुछ टीकाकारों ने उन्हें कुमारनन्दी का शिष्य बताया है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा के रचनाकार स्वामी कुमार यदि कुमार नन्दी हैं, तो ऐसी स्थिति में वे कुन्दकुन्द के पूर्व हुए हैं। पुनः इस आधार पर भी हम कार्तिकेयानुप्रेक्षा को प्राचीन कह सकते हैं कि जहाँ कुन्दकुन्द गुणस्थान सिद्धान्त से सुपरिचित हैं वहाँ कार्तिकेया-नुप्रेक्षा के कर्ता स्वामीकुमार उससे परिचित नहीं हैं। ये मात्र ११ गुणश्रेणियों से परिचित हैं।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा के लेखक स्वामीकुमार कब हुए इस सम्बन्ध में दिगम्बर विद्वानों ने पर्याप्त परिश्रम किया है। जहाँ ए० एन० उपाध्ये उन्हें जोइन्दू के बाद अर्थात् लगभग सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रखते हैं।[1] वहाँ पं० जुगुल किशोर जी मुख्तार इन्हें उमास्वाति के बाद स्थापित करते हैं।[2] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में जो भावनाओं का क्रम दिया गया है वह उमास्वाति के तत्त्वार्थ के अनुरूप है जब कि

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पूर्वोक्त, प्रकाशक परमश्रुत प्रभावकमण्डल, अगास, भूमिका पृ० ६१-७२

२. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश—पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार, वीरशासन संघ, कलकत्ता, प्र० सं० सन् १९५६ पृ० ४९४-५००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार, भगवती आराधना और कुन्दकुन्द की द्वादशानुप्रेक्षा में जो भावनाओं का क्रम दिया है वह भिन्न है। इन सभी गुणस्थान की अवधारणा से परिचित परवर्ती ग्रन्थों से भावना क्रम की विभिन्नता और तत्त्वार्थसूत्र से भावना क्रम की समानता तथा तत्त्वार्थसूत्र के अनुरूप गुणस्थान की अवधारणा का अभाव और आध्यात्मिक विकास की दस अवस्थाओं का उल्लेख उसे तत्त्वार्थसूत्र से क्वचित् परवर्ती सिद्ध करता है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में उमास्वाति के तत्त्वार्थ का अनुसरण यही सूचित करता है कि वे उमास्वाति के निकट परवर्ती रहे होंगे। इस बात की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में उमास्वाति के तत्त्वार्थ के समान ही गुणस्थान सिद्धान्त की अनुपस्थिति है और कर्म निर्जरा के आधार पर आध्यात्मिक विकास की अवस्थाओंका चित्रण है। आध्यात्मिक विकास की इन अवस्थाओं का चित्रण क्वचित् अन्तर के साथ दोनों में समान रूप से पाया जाता है अतः कार्तिकेयानुप्रेक्षा को उमास्वाति के पश्चात् रखा जा सकता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा के लेखक के रूप में जिन स्वामीकुमार का उल्लेख है, यदि हम उनका समीकरण हल्सी के ताम्रपत्र में उल्लेखित यापनीय संघ के कुमारदत्त से करते हैं तो उनका काल ईसा की पांचवीं शताब्दी सिद्ध होगा।[1]

कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा को पांचवीं शताब्दी की रचना मानने में निम्न बाधायें हैं--सर्वप्रथम तो यह कि इसमें नित्य एकान्त, क्षणिक एकान्त एवं ब्रह्मानन्द का निराकरण, सर्वज्ञता की तार्किक पुष्टि आदि पाये जाते हैं। इन विवरणों को देखते हुए ऐसा लगता है कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा पर समन्तभद्र का स्पष्ट प्रभाव है। यद्यपि समन्तभद्र के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में अभी मतैक्य नहीं है। जहाँ पं० जुगल किशोर आदि विद्वान् उन्हें ई० सन् की दूसरी-तीसरी शताब्दी का मानते हैं, वहाँ प्रो० मधुसूदन ढाकी आदि उन्हें ईस्वी सन् की सातवीं शताब्दी का मानते हैं। प्रस्तुत लेख से हम इस सम्बन्ध में विस्तृत

१. जैन शिलालेख संग्रह भाग २ लेख क्रमांक १००, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, शोलापुर, १९५२ ई०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चर्चा करना नहीं चाहते हैं किन्तु इतना तो माना ही जा सकता है कि ऐकान्तिक मान्यताओं के खण्डन और सर्वज्ञता की तार्किक सिद्धि की अवधारणायें पांचवीं शती में अस्तित्व में आ चुकी थीं।

इसी प्रकार कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में त्रिविध आत्माओं की चर्चा उपलब्ध है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा के अतिरिक्त यह चर्चा कुन्दकुन्द के 'मोक्ष-प्राभृत', पूज्यपाद के 'समाधितन्त्र' और योगीन्दु के 'योगसार' एवं 'परमार्थप्रकाश' में भी पायी जाती है। किन्तु हम देखते हैं कि जहाँ कुन्दकुन्द और पूज्यपाद के ग्रन्थों में गुणस्थान सिद्धान्त का उल्लेख है वहाँ कार्तिकेयानुप्रेक्षा में उसका स्पष्ट अभाव है इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि तीन प्रकार की आत्माओं की चर्चा सर्व प्रथम कार्तिकेयानुप्रेक्षा के लेखक स्वामीकुमार ने ही की। सामान्यतया दिगम्बर परम्परा के विद्वान् पूज्यपाद की अपेक्षा कुन्दकुन्द को पूर्ववर्ती मानते हैं। पुनः कुन्दकुन्द के कुछ टीकाकारों ने कुन्दकुन्द के गुरु के रूप में कुमारनन्दि का उल्लेख किया है और यदि ये कुमारनन्दि ही कार्तिकेयानुप्रेक्षा के लेखक स्वामीकुमार हैं तो इस दृष्टि से भी उनका समन्तभद्र और कुन्दकुन्द के पूर्व होना सिद्ध हो जाता है। एक अन्तिम बाधा कार्तिकेयानुप्रेक्षा की प्राचीनता के सन्दर्भ में यह है कि उसमें कुछ गाथाएं अपभ्रंश के प्रभाव से युक्त हैं और योगीन्दु के ग्रन्थों में पायी जाती हैं। इस सम्बन्ध में पं० जुगल किशोर जी मुख्तार आदि की कल्पना यह है कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में ये गाथाएं प्रक्षिप्त हैं[1]। पुनः अपभ्रंश का प्रभाव तो प्रतिलिपि करने के दौरान युग की भाषागत विशेषता के कारण आ सकता है। हम देखते हैं कि इस प्रकार के प्रभाव प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर मान्य आगमों में भी आ गये हैं। हम कार्तिकेयानुप्रेक्षा को किस काल की रचना मानते हैं यह प्रस्तुत आलेख का विवेच्य विषय नहीं है। हमारा प्रतिपाद्य मात्र इतना है कि गुणस्थान सिद्धान्त के सन्दर्भ में कार्तिकेयानुप्रेक्षा की जो स्थिति है वह आचारांग निर्युक्ति और तत्त्वार्थसूत्र के बाद की और षट्खंडागम तथा पूज्यपाद देवनन्दी की सर्वार्थ सिद्धि की टीका के पूर्व की है अर्थात् यह लगभग ५वीं शती के पूर्व की रचना है हम यह भी मान लें कि कार्ति-

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश पृ. ४९७-४९९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केयानुप्रेक्षा सातवीं शताब्दी की रचना है तो भी इतना तो माना ही जा सकता है कि उसमें कर्म निर्जरा के आधार पर आध्यात्मिक विकास की ११ अवस्थाओं की जो चर्चा है वह प्राचीन है और गुणस्थान के विकास की अवधारणा का आधार रही है क्योंकि यह चर्चा दिगम्बर परम्परा में भी लगभग गोम्मटसार तक चलती रही है।

III

षट्खण्डागम एवं दिगम्बर कर्म-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में

यह स्पष्ट है कि षट्खण्डागम में गुणस्थान सिद्धान्त अपने पूर्ण विकसित स्वरूप में प्राप्त होता है। इसका सत्प्ररूपणा खंड १४ गुणस्थानों की विस्तृत विवेचना करता है। इतनी विशेषता अवश्य है कि इसमें 'गुणस्थान' शब्द के स्थान पर 'जीव समास' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। अतः हम कह सकते हैं कि षट्खण्डागम उस काल की रचना है जब गुणस्थान सिद्धान्त विकसित तो हो चुका था किन्तु उसे गुणस्थान नाम प्राप्त नहीं हुआ था। श्वेताम्बर परम्परा में भी, समवायांग में १४ गुणस्थानों के नाम तो उपलब्ध होते हैं किन्तु उन्हें 'जीवट्ठाण' कहा गया है। आवश्यकनिर्युक्ति में जो दो प्रक्षिप्त गाथायें गुणस्थानों का विवरण देती हैं वे १४ भूतग्रामों का उल्लेख होने के बाद दी गई हैं। उसमें इन १४ अवस्थाओं को कोई नाम नहीं दिया गया है। इन दो गाथाओं को गाथाओं की क्रमसंख्या में परिगणित भी नहीं किया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि षट्खण्डागम और समवायांग तथा निर्युक्ति का वह प्रक्षिप्त अंश एक ही काल की रचना है। समवायांग में यह अंश अंतिम वाचना के समय ही जोड़ा गया है, ऐसा पं० दलसुखभाई आदि विद्वानों की अवधारणा है और उस वाचना का काल ईस्वी सन् की पांचवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। श्वेताम्बर परम्परा में गुणस्थान शब्द सबसे पहले आवश्यकचूर्णि में और दिगम्बर परम्परा में पूज्यपाद देवनन्दी की सर्वार्थसिद्धि टीका में उपलब्ध होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, इन दोनों का काल विद्वानों ने छठीं शताब्दी का उत्तरार्ध और सातवीं शती का पूर्वार्ध माना है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि षट्खण्डागम का काल लगभग पांचवीं शती का उत्तरार्ध या छठीं शताब्दी का पूर्वार्ध रहा होगा। इतना निश्चित है कि षट्खण्डागम में 'गुणस्थान' नाम को छोड़कर गुणस्थान सम्बन्धी समस्त अवधारणायें अपने विकसित रूप में हैं। यद्यपि हम अपने पूर्व निबन्ध[1] में यह बता चुके हैं कि गुणस्थान सिद्धान्त के विकास का आधार, आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में प्रतिपादित कर्म निर्जरा के आधार पर आध्यात्मिक विकास की दस अवस्थायें हैं। तथापि इस सम्बन्ध में खोजबीन के दौरान हमें इन दस अवस्थाओं का चित्रण षट्खण्डागम के चतुर्थ वेदना खण्ड के अन्तर्गत सप्तम वेदना विधान की चूलिका में तथा आचारांगनिर्युक्ति की गाथा २२२-२२३ में भी मिला है। षट्खण्डागम की चूलिका में प्रस्तुत ये गाथायें मूलग्रन्थ का अंश न होकर कहीं से ली गई हैं और चूलिका में इनकी व्याख्या की गई है। सम्भावना यह है कि ये गाथायें आचारांगनिर्युक्ति से उसमें ली गई हों। हम यह भी प्रमाणित कर चुके हैं कि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र में उपलब्ध गुणस्थान सिद्धान्त के बीजों का ही क्वचित् विकास कसायपाहुड में हुआ हैं। मेरी दृष्टि में कसायपाहुड, उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र के पश्चात् लगभग ५० से १०० वर्ष के बीच निर्मित हुआ है। यह बात भिन्न है कि हम उमास्वाति का काल क्या मानते हैं? उमास्वाति के काल के आधार पर ही इन ग्रन्थों के काल का निर्धारण किया जा सकता है। हम सामान्य रूप से उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र का काल तीसरी-चौथी शताब्दी मानते हैं और इसी आधार पर हमने इन तिथियों का निर्धारण किया है; जो लोग तत्त्वार्थसूत्र को प्रथम शताब्दी की रचना मानते हैं वे लोग इन तिथियों को एक-दो शताब्दी पूर्व ला सकते हैं। इतना निश्चित है कि प्रज्ञापना के काल अर्थात् ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी तक गुणस्थान सिद्धान्तों का विकास नहीं हुआ था, किन्तु उस काल तक कर्म निर्जरा पर आधारित आध्यात्मिक

---

१. गुणस्थान सिद्धान्त का उद्भव एवं विकास श्रमण, जनवरी-मार्च ९२, पा० वि० शोध संस्थान वाराणसी-५ पृ०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विकास की दस अवस्थाओं की अवधारणा बन चुकी थी, क्योंकि तत्त्वार्थ के पूर्व आचारांगनिर्युक्ति में भी यह अवधारणा उपस्थित है।

यद्यपि षट्खण्डागम गुणस्थान सिद्धान्त का एक विकसित ग्रन्थ है फिर भी उसमें गुणस्थान सिद्धान्त की बीजरूप ये गाथायें भी समाहित कर ली गई हैं, जिनसे गुणस्थान की यह अवधारणा विकसित हुई है। प्रस्तुत लेख में हमारा उद्देश्य षट्खण्डागम के विकसित गुणस्थान सिद्धान्त की चर्चा करना नहीं है, अपितु यह दिखाना है कि षट्खण्डागम में विकसित गुणस्थान सिद्धान्त के साथ-साथ वे बीज भी उपस्थित हैं जिनसे गुणस्थान की अवधारणा विकसित हुई है।

अपने तत्त्वार्थसूत्र सम्बन्धी अध्ययन और लेखन के दौरान मुझे पं० परमानन्द शास्त्री का लेख 'तत्त्वार्थसूत्र के बीजों की खोज'[1] देखने को मिला। उसमें तत्त्वार्थसूत्र के सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ के नवें अध्याय के ४५वें सूत्र, जिसमें कर्म-निर्जरा के आधार पर आध्यात्मिक विकास की उन अवस्थाओं का चित्रण है, के स्रोत के रूप में षट्खण्डागम के २१८ से २२५ तक के सूत्रों को उद्धृत किया गया है। यह सन्दर्भ अपूर्ण था, क्योंकि ये सूत्र मूल ग्रन्थ के किस खण्ड में है, यह नहीं बताया गया था। अतः यह सब देखने के लिए मैंने षट्खण्डागम के मूलपाठ को देखने का प्रयत्न किया। चूँकि प्रस्तुत सन्दर्भ में दी गई सूत्र संख्या भी प्रकाशित षट्खण्डागम के अनुरूप न थी अतः मुझे पर्याप्त परिश्रम करना पड़ा या कहें तो षट्खण्डागम के मूल सूत्रों का पूरा परायण ही करना पड़ा। अन्त में मुझे षट्खण्डागम के चतुर्थ वेदनाखंड में उक्त सूत्र तो मिले, किन्तु वे ग्रन्थ का मूल भाग न होकर चूलिका के रूप में है। मेरा आश्चर्य तब और बढ़ा जब मैंने यह पाया कि ये सूत्र भी चूलिका की दो गाथाओं की व्याख्या के रूप में है। इस अध्ययन से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि षट्खण्डागम के पूर्व प्रचलित गाथाओं में से ये दो गाथायें लेकर के उसकी व्याख्यास्वरूप इन सूत्रों की रचना हुई है। तत्त्वार्थ की इन दस अवस्थाओं के सन्दर्भ में पं० परमानन्द शास्त्री ने षट्खण्डागम के जिन सूत्रों को दिया है और उनका जो क्रम बताया है वह प्रकाशित षट्खण्डागम से मेल नहीं खाता है।

---

१. अनेकान्त वर्ष ४, किरण १, वीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थसूत्र के बीजों की खोज में उन्होंने षट्खण्डागम के जो सूत्र दिये हैं वे प्रकाशित ग्रन्थ के आधार पर नहीं हैं, क्योंकि उस समय तक षट्खण्डागम का प्रकाशन नहीं हुआ था। जैसा कि उनकी टिप्पणी से ज्ञात होता है, उन्होंने ये सारे सूत्र पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार की धवला आदि के परिचय की नोट बुक से लिये थे उन्होंने इन सूत्रों का क्रम २१८ से २२५ बताया है जबकि प्रकाशित षट्खण्डागम[1] में ये सूत्र चतुर्थ वेदना खण्ड के दूसरे वेदना अनुयोगद्वार के सातवें वेदनभाव विधान की प्रथम चूलिका के सूत्र संख्या १७५-१८५ तक पाये जाते हैं।

सूत्र संख्या के इस महत्त्वपूर्ण अन्तर से एक विचार यह आता है कि क्या हस्तप्रत में जो सूत्र मिले थे और उन्हे जो क्रम दिया गया था, उन्हें बदल दिया गया है या जिस प्रकार प्रथम सत्प्ररूपणा खण्ड में संयत पद हटा दिया गया था, उसी तरह से कुछ सूत्र जो दिगम्बर परम्परा के अनुकूल नहीं बैठते थे वे हटा दिये गये। काश सम्प्रदाय-निरपेक्ष दृष्टि से मूल हस्तप्रतों से प्रकाशित षट्खण्डागम का मिलान कर यथार्थ स्थिति को समझने का प्रयास किया जाय, तो उत्तम होगा।

मेरी यह भी स्पष्ट अवधारणा है कि ये चूलिकासूत्र और उसमें दी गई मूल गाथा ग्रन्थ में बाद में जोड़ी गई है, चाहे उसे स्वयं ग्रन्थकार ने ही जोड़ा हो। साथ ही ये दोनों गाथायें षट्खण्डागम की रचना से प्राचीन हैं। भले ही इसकी व्याख्या के रूप में जो सूत्र दिये गये हैं वे षट्खण्डागम के अपने हो सकते हैं। ये गाथाएँ या तो निर्युक्ति से या संग्रहणी गाथाओं से ही ली गई होंगी। फिर मैं इन गाथाओं के प्राचीन मूल स्रोत की खोज में लगा और मैंने पाया कि ये दोनों गाथायें आचारांग निर्युक्ति में उसके चौथे अध्ययन की निर्युक्ति के रूप में हैं। मुझे इनका अन्य कोई प्राचीन स्रोत प्राप्त होगा तो मैं पाठकों को अवश्य सूचित करूँगा। यद्यपि अभी तक आचारांग निर्युक्ति से प्राचीन इनका अन्य कोई स्रोत उपलब्ध नहीं हो सका है। आचारांग निर्युक्ति और षट्खण्डागम के वेदना खण्ड की चूलिका की ये गाथायें एक 'कसाय' शब्द को छोड़कर शब्दशः समान हैं। अतः सम्भावना यही है कि

१. षट्खण्डागम सं०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथायें उसी से ली गई होंगी। फिर भी पं० परमानन्द जी शास्त्री ने भी उस तुलना में षट्खण्डागम की इन गाथाओं के व्याख्या सूत्र ही दिये थे। मूल गाथायें नहीं दी थी। ये गाथाएँ निम्नवत् हैं—

"सम्मत्तुप्पत्ती वि य सावय-विरदे अणंतकम्मंसे
दंसणमोहक्खवए कसायउवसामए य उवसंते।
खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा
तव्विवरीदो कालो संखेज्जगुणा य सेडीओ[1] ॥"

आचारांग निर्युक्ति में ये गाथायें निम्न रूप में हैं—

सम्मत्तुपत्ती सावए विरए अणंतकम्मंसे।
दसंण मोहक्खवए उवसामन्ते य उवसंते॥
खवए य खीणमोहे जिणे अ सेढ़ी भवे असंखिज्जा।
तव्विवरीओ कालो संखिज्जगुणाइ सेढीए॥[2]

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों की गाथाओं में कर्म निर्जरा के आधार पर आध्यात्मिक विकास की जिन दस अवस्थाओं का चित्रण है वे हमें तत्त्वार्थसूत्र में भी उसी रूप में मिलती हैं।

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः॥
तत्त्वार्थसूत्र ९।४७ (विवे० पं० सुखलालजी)

आचारांग निर्युक्ति एवं षट्खण्डागम चूलिका गाथा में वर्णित दस अवस्थाएँ	तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित दस अवस्थाएँ
(१) सम्यक्त्व उत्पत्ति	(१) सम्यग्दृष्टि
(२) श्रावक	(२) श्रावक
(३) विरत	(३) विरत
(४) अनन्तवियोजक (अणंतकम्मंसे)	(४) अनन्तवियोजक

१. षट्खण्डागम, सं० पं० सुमति भाईशाह, श्री श्रुत भंडार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति फाल्टश सन् १९३५, वेदनाखण्ड, वेदनाभाव विधान प्रथम चूलिका गाथा—७-८, पृ० ६२७।

२. आचारांग निर्युक्ति २२-२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(५) दर्शनमोहक्षपक	(५) दर्शनमोहक्षपक
(६) कसाय उपशमक (ज्ञातव्य है कि आचारांग निर्युक्ति में 'कसाय' शब्द नहीं है)	(६) उपशमक
(७) उपशान्त	(७) उपशान्त मोह
(८) क्षपक	(८) क्षपक
(९) क्षीण मोह	(९) क्षीण मोह
(१०) जिन	(१०) जिन

इस प्रकार आचारांग निर्युक्ति की एवं षट्खण्डागम चूलिका में उद्धृत उपर्युक्त गाथाओं में वर्णित दस अवस्थाओं की तत्त्वार्थसूत्र से न केवल भावगत अपितु शब्दगत भी समानता है।

षट्खण्डागम में इन दोनों गाथाओं की व्याख्या के रूप में जो सूत्र बने हैं उनमें शब्द और भाव-स्पष्टता की दृष्टि से भी एक विकास देखा जाता है। साथ ही जहाँ उपरोक्त गाथाओं में दस अवस्थाओं का चित्रण है वहाँ षट्खण्डागम के व्याख्या सूत्रों में ११ अवस्थाओं का चित्रण है, जो स्वतः एक विकास का सूचक है उसमें वर्णित ११ अवस्थाएं निम्न हैं — (१) दर्शनमोह उपशमक (२) संयतासंयत (३) अधः प्रवृत्त (यथाप्रवृत्त) संयत, 'अधापवत्त' का संस्कृत या हिन्दी रूपान्तर यथाप्रवृत्त है, अधःप्रवृत्त नहीं (४) अनन्तानुबंधी विसंयोजक, (५) दर्शनमोहक्षपक, (६) कषायउपशमक, (७) उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ (८) कषाय क्षपक, (९) क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ (१०) अधः प्रवृत्त (यथाप्रवृत) केवली संयत, (११) योगनिरोधकेवली संयत।

इनकी पारस्परिक तुलना में हम पाते हैं आचारांग निर्युक्ति से तत्त्वार्थ की यह विशेषता है कि उसमें 'अणंतकम्मंसे' शब्द के स्थान पर 'अनन्त वियोजक' शब्द है जो अधिक स्पष्ट है। पुनः जहाँ आचारांग निर्युक्ति और तत्त्वार्थसूत्र में छठेंक्रम पर मात्र उपशमक शब्द है, वहाँ षट्खण्डागम में मूलगाथा में कषाय उपशमक शब्द है जो अधिक स्पष्ट है। मूल सूत्र इस प्रकार हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सव्वत्थोवो दंसणमोहउवसामयस्स गुणसेडिगुणो ।
संजदासंजदस्स गुणसेडिगुणो असंखेज्जगुणो ।
अधापवत्तसंजदस्स गुणसेडिगुणो असंखेज्जगुणो ।
अणंताणुबंधी विसंजोएं तस्स गुणसेडिगुणो असंखेज्जगुणो ।
दंसणमोहखवगस्स गुणसेडिगुणो असंखेज्जगुणो ।
कसायउवसामगस्स गुणसेडिगुणो असंखेज्जगुणो ।
उवसंतकसाय-वीयरायछदुमत्थस्स गुणसेडिगुणो असंखेज्जगुणो ।
कसायखवगस्स गुणसेडिगुणो असंखेज्जगुणो ।
खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्थस्स गुणसेडिगुणो असंखेज्जगुणो ।
आधापवत्तकेवलिसंजलदस्स* गुणसेडिगुणो असंखेज्जगुणो ।
जोगणिरोधकेवलिसंजलदस्स* गुणसेडिगुणो असंखेज्जगुणो ।

— षट्खण्डागम, संपादक — ब्र० पं० सुमतिबाई शहा, न्यायतीर्थ ४, २, ७, १७५-१८५

षट्खण्गागम के इन सूत्रों में दिये गये नामों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें गाथाओं में प्रयुक्त मूल शब्दों को अधिक स्पष्ट किया गया है। सम्यक्त्व उत्पत्ति के स्थान पर दर्शनमोह उपशमक शब्द का प्रयोग किया गया है जो उसे अधिक स्पष्ट कर देता है। इसी प्रकार श्रावक के स्थान पर संयतासंयत शब्द का प्रयोग हुआ है। हम यह देखते हैं कि बाद में भी गुणस्थान सिद्धान्त में श्रावक शब्द का प्रयोग न होकर देशविरत, संयतासंयत या विरताविरत जैसे शब्दों का ही प्रयोग हुआ है। इसीप्रकार तीसरे क्रम पर विरत के स्थान पर अधःप्रवृत्तसंयत या यथाप्रवृत्तसंयत शब्द का प्रयोग हुआ है जो अपने में एक विशेषता रखता है। चौथे क्रम में जहाँ मूल गाथा में 'अणंतकम्मंसे' शब्द है वहाँ व्याख्यासूत्र में अनन्तानुबंधी विसंयोजक शब्द का प्रयोग हुआ है जो कि अधिक स्पष्ट है। पाँचवें और छठें क्रम के शब्द मूल गाथाओं और व्याख्या दोनों में समान हैं, सातवें क्रम पर जहाँ गाथा में केवल 'उपशान्त' शब्द है वहाँ व्याख्यासूत्रों में 'उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ' शब्द दिया गया है। इसी प्रकार आठवें क्रम पर क्षपक के स्थान पर कषायक्षपक दिया गया है। नवें क्रम पर

* मूल पाठ में 'ल' अक्षर अधिक लगता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षीणमोह के स्थान पर क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ शब्द का प्रयोग हुआ है, जिससे अर्थ में एक स्पष्टता आ जाती है। दसवें क्रम पर मूल गाथा में तथा तत्त्वार्थसूत्र में जिन शब्द प्रयुक्त है, जबकि षट्खण्डागम के व्याख्यासूत्रों में यथाप्रवृत्त केवली संयत शब्द दिया गया है। ज्ञातव्य है कि आगे चलकर गुणस्थान सिद्धान्त में यथाप्रवृत्त के स्थान पर सयोगी केवली शब्द का प्रयोग होने लगा था। साथ ही जहाँ मूलगाथा में मात्र १० अवस्थाओं का चित्रण है, षट्खंडागम के व्याख्यासूत्रों में योगनिरोधकेवलीसंयत नामक ग्यारहवाँ क्रम भी दिया गया है। यही आगे गुणस्थान सिद्धान्त में अयोगीकेवली बन गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूलगाथा की अपेक्षा व्याख्यासूत्रों में विकास और अर्थ की स्पष्टता है। गुणस्थान सिद्धान्त के निर्माण की दृष्टि से यदि हम देखें तो षट्खंडागम के व्याख्यासूत्रों के इन ११ स्थानों में मिथ्यात्व, सास्वादन, और मिश्र ये तीन स्थान और जुड़कर १४ गुणस्थानों का निर्माण हुआ है। विशेष रूप से ध्यान देने की बात यह है कि इन अवस्थाओं में भी अनन्तवियोजक, दर्शनमोहक्षपक और कषायउपशामक के स्थान पर गुणस्थान सिद्धान्त में अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन नये नाम आये हैं और उपशान्त कषाय और क्षपक इन दो के स्थान पर सूक्ष्मसंपराय और उपशान्त मोह ये दो अवस्थाएं बनी हैं। इस प्रकार से षट्खंडागम में उद्धृत मूल गाथाओं में वर्णित १० और व्याख्यासूत्रों में वर्णित ११ अवस्थाएं ही आगे चलकर १४ गुणस्थानों का रूप लेती हैं। गुणस्थान सिद्धान्त की उपर्युक्त १० अथवा ११ अवस्थाओं की एक सबसे महत्त्वपूर्ण भिन्नता यह है कि इन अवस्थाओं में पतन की कोई कल्पना नहीं है। गुणस्थान सिद्धान्त में सास्वादन और मिश्र गुणस्थान पतन की चर्चा के परिणाम स्वरूप ही अस्तित्व में आये हैं। इसीप्रकार गुणस्थान सिद्धान्त और कर्म निर्जरा के आधार पर विकसित इन दस अवस्थाओं में दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि इन दस अवस्थाओं के चित्रण में दर्शनमोह और चारित्रमोह के सन्दर्भ में पहले उपशम और बाद में क्षय की अवधारणा स्वीकृत रही है। उपशम श्रेणी और क्षायिक श्रेणी से अलग-अलग आरोहण की बात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनमें नहीं है। ये अवस्थाएं इस तथ्य की सूचक हैं कि पहले दर्शनमोह और चारित्रमोह का उपशम होता है और उसके बाद ही क्षय होता है। सीधे क्षायिक श्रेणी से आध्यात्मिक विकास करने की चर्चा इन १० अथवा ११ अवस्थाओं में नहीं है। साथ ही यह भी माना गया है कि उपशमकसम्यक् दर्शन और उपशमकसम्यक् चारित्र के बाद ही क्षायिकसम्यक् दर्शन और क्षायिकचारित्र का विकास होता है। इन अवस्थाओं का गुणस्थान सिद्धान्त के प्रकाश में अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुणस्थान सिद्धान्त की अवधारणाओं का विकास इन्हीं अवस्थाओं या गुणश्रेणियों से हुआ है।

यद्यपि षट्खण्डागम में गुणस्थान सिद्धान्त विकसित रूप में उपस्थित है—फिर भी उसमें उन बीजों को भी चूलिका सूत्रों के रूप में समाहित कर लिया गया है जिनसे इस सिद्धान्त का विकास हुआ है। इस सम्बन्ध में विशेष चर्चा तो हम अपने पूर्व लेख में कर चुके हैं। यद्यपि यहाँ इतना ज्ञातव्य है कि गुणस्थान सिद्धान्त के इन मूलबीजों को संग्रहीत करने की यह प्रवृति दिगम्बर परम्परा में आगे गोम्मटसार के काल तक चलती रही है—षट्खण्डागम चूलिका में उद्धृत ये दोनों गाथाएँ गोम्मटसार के जीवकाण्ड में गाथा क्रमांक ६६-६७ में उपलब्ध होती हैं।

गोम्मटसार में ये गाथायें निम्न हैं—

सम्मत्तुप्पत्तीये, सावयविरदे अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खवगे, कसाय उवसामगे य उवसंते॥
खवगे य खीणमोहे, जिणेसु दव्वा असंखगुणिदकमा।
तविवरीया काला, संखेज्ज गुणक्कमा होंति॥

जीवकाण्ड ६६-६७

इनमें दूसरी गाथा के दूसरे और चतुर्थ चरण में कुछ पाठभेद को छोड़कर सामान्यतया ये गाथायें षट्खण्डागम में उद्धृत गाथाओं के समान ही हैं मेरी दृष्टि में ये गाथायें षट्खण्डागम की चूलिका से ही उसमें ली गई हैं। क्योंकि इन गाथाओं के टीकाकार भी षट्खण्डागम के व्याख्यासूत्रों के अनुरूप ग्यारह अवस्थाओं का उल्लेख करते हैं, जबकि मूल में आचारांगनिर्युक्ति एवं तत्त्वार्थसूत्र के समान दस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवस्थायें ही हैं। पुनः ये गाथायें गोम्मटसार में १४ गुणस्थानों की विस्तृत चर्चा के ठीक पश्चात् आई हैं और इनके बाद सिद्धों की चर्चा है। विषय की दृष्टि से सप्रसंग होते हुए वहाँ ये गाथायें अनावश्यक ही प्रतीत होती हैं क्योंकि अयोगी केवली तक की चर्चा के बाद इन्हें दिया गया है। इनके देने का एकमात्र प्रयोजन इन गाथाओं के माध्यम से प्राचीन परम्परा को संरक्षित करना था। साथ ही यह निश्चित है कि ये गाथायें न तो षट्खण्डागमकार की अपनी रचना हैं और न गोम्मटसार के कर्ता की। गोम्मटसार के कर्ता ने इन्हें षट्खण्डागम से लिया है और षट्खण्डागमकार ने या तो इन्हें आचारांग निर्युक्ति से लिया है या अन्य किसी प्राचीन स्रोत से। षट्खण्डागम मूलतः यापनीय कृति है और यापनीयों में निर्युक्तियों के अध्ययन की परम्परा थी यह बात मूलाचार से भी सिद्ध होती है अतः सम्भावन यही है कि षट्खण्डागमकार ने इन्हें निर्युक्ति से लिया हो। आचारांग निर्युक्ति में ये दोनों गाथायें कहीं से अवतरित ही प्रतीत होती हैं, हो सकता है कि ये गाथायें पूर्व साहित्य या कर्म साहित्य के किसी प्राचीन ग्रन्थ का अंश रही हों और वहीं से निर्युक्ति, तत्त्वार्थसूत्र और षट्खण्डागम में गई हों। चूँकि निर्युक्तिसाहित्य एवं तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानसिद्धान्त पूर्णतः अनुपस्थित है और रचनाकाल की दृष्टि से भी ये प्राचीन हैं—अतः कर्म निर्जरा के आधार पर आध्यात्मिक विकास की दस अवस्थाओं / गुणश्रेणियों का चित्रण करने वाली इन गाथाओं का अवतरण क्रम या पौर्वापर्य मेरी दृष्टि में इस प्रकार है—

(१) पूर्व साहित्य का कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी कोई ग्रन्थ

(२) आचारांगनिर्युक्ति—आर्यभद्र, ई० सन् २री शती

(३) तत्त्वार्थसूत्र—उमास्वाति, ई० सन् ३री-४थी शती

(४) कसायपाहुडसुत्त—गुणधर, ई० सन् ४थी शती

(५) षट्खण्डागम—पुष्पदंत-भूतबलि, ई० सन् ५वीं-६ठीं शती

(६) गोम्मटसार—नेमिचन्द्र, ई० सन् १०वीं शती उत्तरार्ध।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन में शब्दार्थ-सम्बन्ध

— डा० सुदर्शन लाल जैन

मनुष्य अपने विचारों और अनुभूतियों को प्रमुख रूप से शब्द-प्रतीकों (सार्थक ध्वनि-संकेतों के सुव्यवस्थित रूप) के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। भारतीय दर्शन में शब्दार्थ-सम्बन्ध पर गम्भीरता से विचार किया गया है। जैन दार्शनिकों ने भी इस सम्बन्ध में तत्त्वार्थवार्तिक, प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थों में विस्तृत विचार किया है। शब्दार्थ के सम्बन्ध में जैनेतर भारतीय दार्शनिकों की निम्न मान्यतायें हैं—

(क) **बौद्ध**—शब्द और अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। शब्द का अर्थ विधिरूप न होकर अन्यापोह (इतर-व्यावृत्ति) रूप है। इनका कहना है कि शब्द और अर्थ में जो वाच्य-वाचक सम्बन्ध माना जाता है वह वस्तुतः कार्यकारणभाव सम्बन्ध से भिन्न नहीं है क्योंकि बुद्धि में अर्थ का जो प्रतिबिम्ब होता है वह शब्दजन्य है; इससे उसे वाच्य कहते हैं तथा शब्द को उसका जनक होने से वाचक कहते हैं।

(ख) **मीमांसक**—ये शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध मानते हैं। शब्द को भी नित्य मानते हैं। शब्द का अर्थ सामान्यमात्र होता है, विशेष नहीं, जैसे 'गौ' शब्द 'गो' व्यक्ति का बोधक न होकर 'गोत्व' सामान्य का बोधक है। 'सामान्य व्यक्ति के बिना नहीं रह सकता है' ऐसा नियम होने से सामान्यबोध के पश्चात् लक्षितलक्षणा के द्वारा व्यक्ति-विशेष की प्रतीति होती है। भाट्ट मीमांसक शब्द को द्रव्य मानते हैं और प्रभाकर मीमांसक आकाश का गुण स्वीकार करते हैं।

(ग) **वैयाकरण**—ये 'स्फोट' नामक एक नित्य तत्त्व मानते हैं। इनके अनुसार वर्ण-ध्वनियाँ (वर्ण, पद और वाक्य) क्षणिक हैं, अतः उनसे अर्थबोध नहीं हो सकता है। इन वर्ण-पदादिरूप क्षणिक

अध्यक्ष व रीडर, संस्कृत विभाग, बी. एच. यू., वाराणसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्णध्वनियों से भिन्न स्फोट की अभिव्यक्ति होती है और उससे अर्थ का बोध होता है। इनके मतानुसार केवल संस्कृत शब्दों में ही अर्थ-बोध की शक्ति है। प्राकृत आदि देशी भाषाओं के शब्दों में नहीं। शब्द ब्रह्मवादी होने से इनके यहाँ शब्द द्रव्यात्मक स्वीकृत है।

(घ) न्याय-वैशेषिक—ये शब्द को आकाश का गुण मानते हैं जो आकाश-द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहता है। शब्द ताल्वादिजन्य होने से अनित्य है।

(ङ) सांख्य-योग—शब्द प्रकृति का परिणाम होने से अनित्य है तथा द्रव्यरूप है।

जैन दर्शन की मान्यता :

शब्द अनित्य है, शब्दार्थसम्बन्ध अनित्य है तथा शब्द का विषय सामान्य-विशेषात्मक है। शब्द न तो आकाश का गुण है और न स्वतन्त्र द्रव्य अपितु पुद्गलद्रव्य की पर्याय है। वाच्यार्थ का सही ज्ञान नय और निक्षेप पद्धति से सम्भव है।

शब्द की अनित्यता तथा उसके द्रव्यरूप या गुणरूप होने का विचार-

जैन दृष्टि से शब्द पुद्गलद्रव्य (रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि से युक्त अचेतन तत्त्व) की पर्याय है। प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के धर्म पाये जाते हैं—नित्य धर्म (गुण) और अनित्य धर्म (पर्याय)। भाषा वर्गणारूप पुद्गल के परमाणु (पुद्गल के वे परमाणु जो शब्दरूप में बदलने की योग्यता रखते हैं) ही निमित्त पाकर शब्दरूप परिणत हो जाते हैं अर्थात् जब वे पुद्गल-परमाणु संयोगविभाग आदि निमित्त पाकर शब्द-रूप परिणत होते हैं तो उसे पुद्गल की पर्याय कहते हैं। यह शब्दरूप परिणमन शक्ति केवल पुद्गल के भाषा वर्गणारूप परमाणुओं में ही है, अन्य में नहीं। यह परिणमन क्षणिक होता है। अतः ये पुद्गल के अनित्य धर्म कहे जाते हैं। ये शब्द न तो वायुरूप और न आकाश-गुण रूप स्वीकृत हैं। ये स्वरूपतः गत्यात्मक हैं। इन पर देश-काल का प्रभाव पड़ता है। चारों ओर इनका वीची-तरङ्गन्याय से विस्तार होता है जिसमें वायु सहायक कारण बनता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने शब्दोत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादिगो णियदो।। पंचास्तिकाय ७९

अर्थ—परमाणुओं के संघात (परस्पर संयोगविशेष) से स्कन्ध बनता है और उन स्कन्धों के परस्पर टकराने से शब्द उत्पन्न होता है। अतः शब्द निश्चय से उत्पाद्य (अनित्य) है।

स्पष्टार्थ—जिस प्रकार परमाणुओं में गंधादि गुण अव्यक्त रूप से सदा रहते हैं उसी प्रकार शब्द भी परमाणुओं में रहते हैं, ऐसा नहीं है। क्योंकि शब्द स्कन्धों के टकराने से उत्पन्न होते हैं और वे श्रवणेन्द्रिय का विषय होने से मूर्त (स्कन्धरूप) हैं। शब्द में रूपादि भी हैं परन्तु अनुद्भूत हैं। अतः वे पुद्गलस्कन्ध की पर्याय (अनित्य धर्म) हैं, गुण नहीं। वस्तुतः शब्द अनन्त पुद्गल परमाणुओं की स्कन्धात्मक पर्याय है जो बाह्य निमित्तकारणरूप स्कन्धों (वायु, गला, तालु, जिह्वा, ओष्ठ, घंटा, ढोल, मेघ आदि) के टकराने से जन्य है। अभ्यन्तर कारण स्वयं शब्द रूप परिणमित होने वाली अनन्त परमाणुमयी शब्दयोग्य वर्गणायें हैं। ये शब्द वर्गणायें समस्त लोक में व्याप्त हैं। इस तरह शब्द न तो गुण रूप है, न परमाणु रूप है और न द्रव्यरूप है अपितु पुद्गलद्रव्य की पर्यायविशेष (अनित्यधर्म) है। पर्याय, द्रव्य से सर्वथा पृथक् नहीं होती है। अतः अपेक्षाभेद से शब्द को पौद्गलिक या पुद्गलद्रव्य भी कह सकते हैं।

शब्दार्थ-सम्बन्ध की अनित्यता

शब्द और अर्थ में न तो अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है और न बौद्धों की तरह तादात्म्य-तदुत्पत्ति सम्बन्ध है। अपितु योग्यतारूप सम्बन्ध है। जैसे ज्ञान में ज्ञापक शक्ति है और ज्ञेय में ज्ञाप्य शक्ति है वैसे ही शब्द में वाचक (प्रतिपादक) शक्ति और अर्थ में वाच्य (प्रतिपाद्य) शक्ति प्रतिनियत है। इसी वाच्य-वाचक शक्ति का नाम 'योग्यता' है। यद्यपि सभी शब्दों में सभी प्रकार के अर्थों को कहने की शक्ति है परन्तु व्यक्तियों के द्वारा प्रतिनियत संकेत कर लेने के कारण प्रत्येक शब्द प्रतिनियत अर्थ का ही प्रतिपादन करता है। यही कारण है कि एक ही शब्द का विभिन्न भाषाओं में तथा विभिन्न प्रदेशों में विविध अर्थों में संकेत मिलता है, जैसे—'फूल' शब्द हिन्दी भाषा में 'पुष्प' का वाचक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है तो अंग्रेजी में 'मूर्ख' का वाचक है। 'कर्कटिका' शब्द मालवा में 'ककड़ी' अर्थ का वाचक है तो गुजरात में 'योनि' अर्थ का वाचक है। इस तरह सिद्ध है कि शब्दार्थ-सम्बन्ध अनित्य है। प्रयोग, सन्दर्भ आदि के अनुसार उसे अर्थ दिया जाता है। यही कारण है कि देश, काल, भाषा आदि के भेद से शब्दार्थ-सम्बन्धों में भेद पाया जाता है। अर्थापकर्ष (यथा–असुर), अर्थविस्तार (यथा–स्याही), अर्थसंकोच (यथा-वास) आदि भाषाविज्ञान के नियम भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। जैन दृष्टि से सम्प्रेषण और अर्थग्रहण की शक्ति में 'नामकर्म' का क्षयोपशम भी निमित्त कारण होता है। चक्षु में जैसे रूप के प्रकाशन की शक्ति है वैसे ही शब्द में अर्थ के प्रकाशन की शक्ति स्वाभाविक है, परन्तु शब्द संकेतग्राही पुरुष को ही अपने अर्थ का ज्ञान कराता है। चूंकि शब्द ज्ञापक है, अतः वह संकेत की अपेक्षा से ही अर्थ का बोध कराता है। जो ज्ञापक होता है वह उसी पुरुष को, ज्ञाप्य का ज्ञान कराता है जिसने पहले से ज्ञापक और ज्ञाप्य के सम्बन्ध को जान लिया हो।

शब्द और अर्थ का मीमांसकों की तरह नित्य सम्बन्ध नहीं है, अपितु अनित्य सम्बन्ध है– शब्द योग्यतारूप सम्बन्ध से ही अर्थ का प्रतिपादक होता है। यह सम्बन्ध नैयायिकों की तरह ईश्वरेच्छारूप भी नहीं है अपितु प्राणियों के प्रयत्न से जन्य है। यह अर्थबोधकता मात्र शब्द में निहित नहीं है अपितु वक्ता और श्रोता की योग्यता पर भी निर्भर है। यही कारण है कि अनसीखी भाषा से न तो अर्थबोध होता है और न वक्ता उस भाषा को बोल पाता है।

अनित्य शब्दों से अर्थज्ञान कैसे ?—शब्द को अनित्य मानने पर वह उत्पन्न होते ही नष्ट हो जायेगा फलस्वरूप 'गौ' (ग्—औ) आदि शब्दों से अर्थज्ञान नहीं होगा। इसके उत्तर में जैनों का कहना है, जैसे धूम के अनित्य होने पर भी सादृश्य के कारण धूम सामान्य से अग्नि का अनुमान किया जाता है वैसे ही शब्द के अनित्य होने पर भी सादृश्य के कारण शब्द-सामान्य से अर्थज्ञान हो सकता है। शब्द **अनित्य है क्योंकि वह कार्य है**। शब्द कार्य है क्योंकि वह कारणों के होने पर उत्पन्न होता है और कारणों के अभाव में उत्पन्न नहीं होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। शब्द उत्पन्न होकर वीचीतरंग न्याय से अन्य-अन्य सदृश शब्दों को उत्पन्न करता हुआ लोकान्त तक जा सकता है।

वैयाकरणों ने वर्ण, पदादि के अनित्य होने से एक नित्य, स्फोट तत्त्व की कल्पना की है, परन्तु जैनों ने ऐसे किसी नित्य तत्त्व को अर्थबोध के लिए आवश्यक नहीं माना है। उनकी मान्यता है कि पूर्व वर्णों के नाश से विशिष्ट अन्तिम वर्ण से अर्थ का बोध होता है अर्थात् पूर्व वर्णों के ज्ञान के संस्कार से सहित अन्तिम वर्ण अर्थ का बोध कराता है। जैसे--प्रथमतः वर्ण का ज्ञान, पश्चात् उससे संस्कारोत्पत्ति, पश्चात् दूसरे वर्ण का ज्ञान, तदनन्तर पूर्ववर्णज्ञान से संस्कार से सहित उस ज्ञान से विशिष्ट संस्कार का जन्म। तृतीय आदि वर्णों के विषय में भी अर्थ का ज्ञान कराने वाले अन्तिम वर्ण के सहायक अन्तिम संस्कार तक यही क्रम जानना चाहिए। वाक्य से अर्थज्ञान होने में भी यही नियम है।

शब्द का विषय सामान्य-विशेषात्मक है--मीमांसकों की तरह शब्द का विषय सामान्यमात्र नहीं है अपितु सामान्यविशेषात्मक है। वस्तुतः संकेत के अनुसार ही शब्द वाचक होता है। संकेत सामान्य-विशिष्ट विशेष में ही किया जाता है, न कि सामान्य मात्र में। केवल सामान्य न तो प्रवृत्ति का विषय है और न किसी अर्थक्रिया में उपयोगी है। जैसे गौ, घट आदि व्यक्ति कार्यकारी हैं, गोत्व या घटत्व जाति (सामान्य) नहीं। 'दण्डी' शब्द से जैसे दण्डविशिष्ट पुरुष की प्रतीति होती है वैसे ही 'गौ' शब्द से गोत्व-विशिष्ट गोपिण्ड की प्रतीति होती है। वस्तुतः जाति और व्यक्ति दोनों शब्दवाच्य हैं। प्रसङ्गानुसार विवक्षाभेद से उनमें मुख्यता और गौणता देखी जाती है।

संस्कृत भिन्न शब्दों में भी अर्थवाचकता—संस्कृत के 'गौ' आदि शुद्ध शब्दों की तरह अपभ्रंश के 'गावी' आदि शब्दों से भी अर्थज्ञान होता है, क्योंकि वाच्यवाचकभाव लोकव्यवहार के अधीन होता है। यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो असंस्कृतज्ञों को कभी भी शब्दार्थज्ञान नहीं होगा।

शब्दों के भेद—शब्द दो प्रकार के हैं--प्रायोगिक और वैस्रसिक। पुरुष आदि चेतन के प्रयत्न से जन्य शब्द को 'प्रायोगिक' कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चेतनप्रयत्न के बिना केवल पुद्गल स्कन्धों के संघर्ष से जन्य शब्द को 'वैस्रसिक' कहते हैं। जैसे--मेघध्वनि आदि। प्रायोगिक के दो भेद हैं-

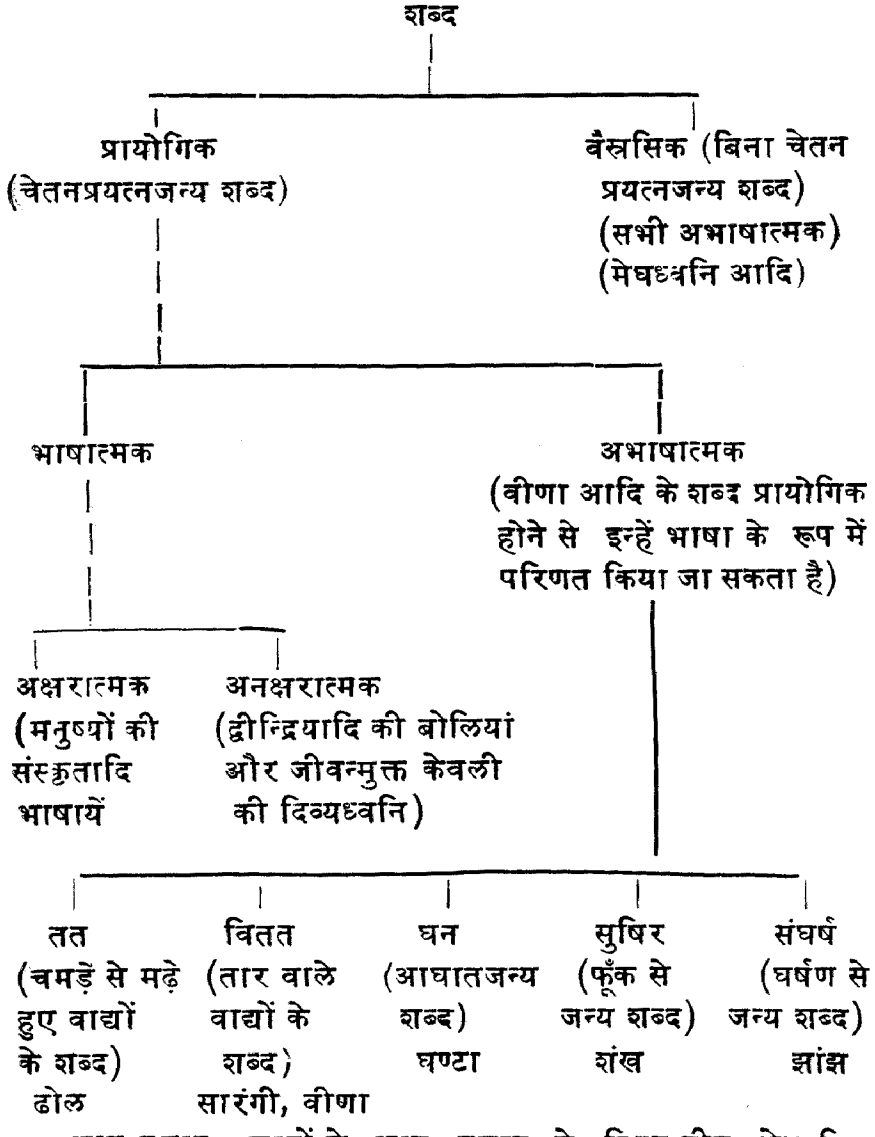

अन्य प्रकार --शब्दों के अन्य प्रकार से निम्न तीन भेद किए गए हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाषात्मक और अभाषात्मक। भाषात्मक के दो भेद हैं—अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। मनुष्यों की संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी आदि भाषायें अक्षरात्मक हैं। द्वीन्द्रियादि जीवों की भाषा तथा केवली की दिव्य-ध्वनि अनक्षरात्मक है। वीणा, ढोल, झांझ, बांसुरी आदि से उत्पन्न शब्द अभाषात्मक हैं। सभी वैस्रसिक शब्द अभाषात्मक हैं।

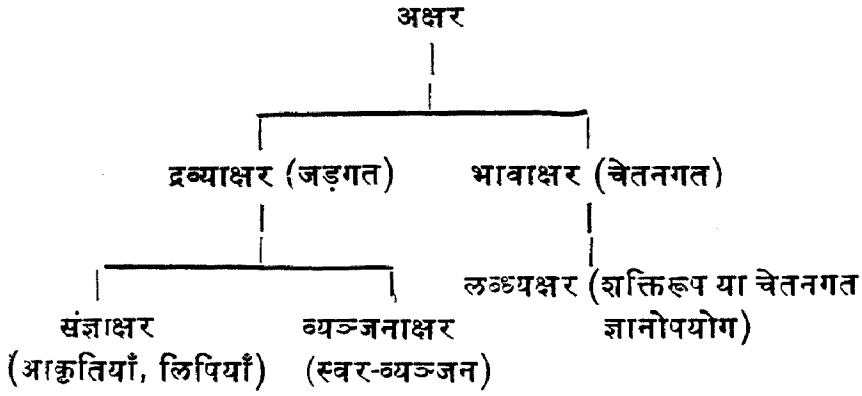

शब्द, पद और वाक्य

अर्थबोधक विभक्तिरहित वर्णों के समुदाय को 'शब्द' कहते हैं और विभक्तिसहित होने पर उसे ही 'पद' कहते हैं। जैसे 'राम' (र्—आ—म् -अ) एक शब्द है और 'रामः' (राम—सु विभक्ति = :) या 'राम ने' एक पद है। 'पद' वाक्यांश होता है और वह वाक्य-सापेक्ष होता है परन्तु 'शब्द' वाक्य-निरपेक्ष होता है।

अपने वाच्यार्थ को प्रकट करने के लिए परस्पर साकांक्ष (सापेक्ष) पदों का निरपेक्ष समुदाय वाक्य है, 'पदानां तु तदपेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यमिति (प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ४५८) अर्थात् साकांक्ष पद परस्पर मिलकर तब एक ऐसी इकाई बना लेते हैं जिसे अपना अर्थ-बोध कराने के लिए अन्य की अपेक्षा नहीं रहती है, वाक्य कहते हैं।

वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मत

भारतीय दार्शनिकों में वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में दो प्रमुख मत हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) वाक्य से पृथक् पद का कोई महत्त्व नहीं है। वाक्य एक अखण्ड इकाई है। इस मत वाले अन्विताभिधानवादी (प्रभाकर मीमांसक का मत) कहलाते हैं। इस अन्विताभिधान मत में पद परस्पर अन्वित ही प्रतीत होते हैं, अर्थात् पदों को सुनकर संकेत ग्रहण केवल अनन्वित पदार्थों में नहीं होता अपितु वाक्य में पद परस्पर अन्वित (सम्बन्धित) होकर ही वाक्यार्थ का बोध कराते हैं।

(२) पद वाक्य के महत्त्वपूर्ण अंग हैं और वे अपने आप में स्वतन्त्र इकाई हैं। इस मत वाले अभिहितान्वयवादी (कुमारिलभट्ट का मत) कहलाते हैं। इस मत (अभिहितान्वय वाद) से प्रथमतः पदों को सुनकर अनन्वित (असम्बद्ध) पदार्थ उपस्थित होते हैं पश्चात् आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्य के आधार पर (विभक्तिप्रयोग के आधार पर) उन पदों के परस्पर सम्बन्ध का बोध होकर वाक्य का बोध होता है, अर्थात् वाक्यार्थ पदों के वाच्यार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध (अन्वय) पर निर्भर है।

जैन दृष्टि से पद और वाक्य दोनों का सापेक्षिक महत्त्व है, क्योंकि पदों के अभाव में न तो वाक्य सम्भव है और न वाक्य के अभाव में पद अपने विशिष्ट अर्थ के प्रकाशन में सक्षम है। इस तरह जैनदर्शन में पद और वाक्य दोनों पर समान बल दिया गया है। वस्तुतः पद और वाक्य न तो परस्पर भिन्न हैं और न अभिन्न। अतः वाक्यार्थ बोध में कोई भी उपेक्षणीय नहीं है। इस तरह जैनदर्शन में दोनों मतों का समन्वय किया गया है। किञ्च इसमें न केवल क्रियापद (आख्यात) प्रधान है और न कर्त्तापद।

वाच्यार्थ-निर्धारण की नय-निक्षेप-पद्धति

वक्ता द्वारा कहे गए शब्दों का सही अर्थ निर्धारण नय और निक्षेप पद्धतियों से सम्भव है। एक ही शब्द या वाक्य प्रयोजन तथा प्रसंगानुसार अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। जैसे—'सैन्धव' शब्द भोजन के समय 'नमक' का बोधक है और यात्रा के समय 'घोड़ा' का बोधक है। अतः श्रोता को वक्ता के शब्दों के साथ उसका अभिप्राय, कथनशैली, तात्कालिक सन्दर्भ आदि को जानना जरूरी है। इसके लिए आवश्यक है, नय और निक्षेप सिद्धान्तों का जानना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निक्षेप पद्धति—

वक्ता ने किस शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया है इसका निर्धारण निक्षेप से किया जाता है। प्रत्येक शब्द के कम से कम चार प्रकार के अर्थ सम्भव हैं। अतः उन चार अर्थों के आधार पर ही निक्षेप के चार भेद किए जाते हैं—

१. नाम निक्षेप, २. स्थापना निक्षेप, ३. द्रव्य निक्षेप और ४. भाव निक्षेप। जैसे—'राजा' शब्द (१) राजा नामधारी व्यक्ति, (२) राजा का अभिनय करने वाला अभिनेता, (३) भूतपूर्व शासक और (४) वर्तमान शासक इन चार अर्थों को क्रमशः चार निक्षेपों के द्वारा प्रकट करता है।

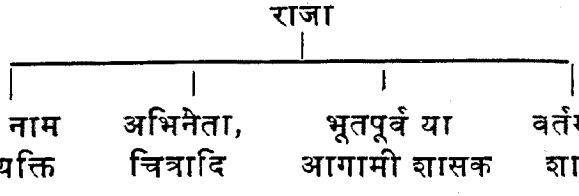

(१) **नाम निक्षेप**—शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ की तथा गुणादि की अपेक्षा न करते हुए किसी व्यक्ति या वस्तु को संकेतित करने के लिए कोई 'नाम' रख देना 'नाम निक्षेप' है। जैसे—जन्मान्ध को 'नयनसुखदास' कहना। इसी तरह लोक व्यवहारार्थ रिंकू, पप्पू आदि नाम रखना नाम निक्षेप है। इसमें पर्यायवाची शब्द नहीं प्रयुक्त होते हैं क्योंकि एक शब्द से एक ही अर्थ (व्यक्ति) का बोध होता है और वह उसमें रूढ़ हो जाता है। एक नाम वाले कई व्यक्ति भी हो सकते हैं।

(२) **स्थापना निक्षेप**—मूर्ति, चित्र, प्रतिकृति आदि में मूलवस्तु का आरोप करना स्थापना निक्षेप है। इसके दो प्रकार हैं— (क) तदाकार स्थापना और (२) अतदाकार स्थापना। जब मूल वस्तु की आकृति के अनुरूप आकृति में मूल वस्तु का आरोप करते हैं तो उसे तदाकार-स्थापना कहते हैं। जैसे भगवान् राम की मूर्ति को 'राम' कहना और उसे राम की तरह सम्मान देना। जब मूल वस्तु की आकृति के अनुरूप आकृति के न रहने पर भी उसमें मूलवस्तु का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरोप किया जाता है तो उसे अतदाकार-स्थापना कहते हैं। जैसे शतरंज की मोहरों को राजा, वजीर आदि कहना।

(३) **द्रव्य निक्षेप**--जो अर्थ या वस्तु पूर्वकाल में किसी पर्याय में रह चुकी हो या भविष्य में रहेगी उसे वर्तमान में भी उसी नाम से संकेतित करना द्रव्य निक्षेप है। जैसे—सेवानिवृत्त अध्यापक को वर्तमान में भी अध्यापक कहना। डाक्टरी पढ़ने वाले छात्र को वर्तमान में डाक्टर कहना। मिट्टी के ऐसे घड़े को घी का घड़ा कहना जिसमें या तो पहले कभी घी रखा गया था या भविष्य में घी रखा जायेगा परन्तु वर्तमान में घी से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(४) **भाव निक्षेप** —जिस अर्थ में शब्द का व्युत्पत्ति निमित्त या प्रवृत्ति निमित्त वर्तमान में घटित होता हो उसे तद्रूप कहना भाव-निक्षेप है। जैसे—सेवा कर रहे व्यक्ति को सेवक कहना, खाना पका रहे व्यक्ति को पाचक कहना, आदि।

नय पद्धति—

वक्ता या ज्ञाता के अभिप्राय विशेष को 'नय' कहते हैं। इससे भाषा का अर्थ-विश्लेषण किया जाता है। अभिप्रायों की अनेकता के कारण इसके अनेक भेद सम्भव हैं। किन्तु सामान्यरूप से इसके सात भेद स्वीकृत हैं। जैनदर्शन में नयों का विभाजन कई प्रकार से किया गया है। जैसे द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय, निश्चय नय और व्यवहार नय, आदि। परन्तु भाषाशास्त्र की दृष्टि से प्रमुख सात भेद स्वीकृत हैं जिन्हें शब्दनय और अर्थनय के भेद से दो भागों में भी विभक्त किया गया है। जैसे—

(१) **अर्थनय** --इसमें नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये ४ नय आते हैं।

(२) **शब्दनय** —इसमें शब्द, समभिरूढ़ तथा एवम्भूत में ३ नय आते है।

सातों नयों के स्वरूप निम्न हैं—

(१) **नैगमनय**—वक्ता के संकल्पमात्र या उद्देश्यमात्र को ग्रहण करने वाला नैगमनय कहलाता है। इसमें भूत और भविष्यत् पर्यायों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में भी वर्तमान-व्यवहार होता है। औपचारिक कथन इसी नय की दृष्टि से सत्य है। क्रियमाण (भविष्यत् क्रिया) को कृत (हो चुकी क्रिया) कहना भी इसी नय से सम्भव है। क्योंकि वर्तमान में जो पर्याय पूर्ण नहीं हुई है उसे इस नय की दृष्टि से पूर्ण माना जाता है। जैसे--डाक्टरी पढ़ने वाले छात्र को भावि लक्ष्य की दृष्टि से वर्तमान में डाक्टर कहना। 'आज कृष्ण जन्माष्टमी है' ऐसा वर्तमानकालिक व्यवहार भूतकालीन घटना का औपचारिक प्रयोग है। अभी पूरा भोजन नहीं बना परन्तु कहना 'भोजन बन गया' क्रियमाण को कृत कहना है। इसमें कुछ कार्य हो चुका है और कुछ होना बाकी है। भात पक गया (चावल का पकना), आटा पिसाना (गेहूँ पिसाना) आदि प्रयोग इसी नय की सीमा में आते हैं।

(२) **संग्रहनय**--व्यष्टि (विशेष या भेद) को गौण करके समष्टि (सामान्य या अभेद) का कथन करना या ज्ञान होना संग्रहनय है। अपनी-अपनी जाति के अनुसार वस्तुओं का या उनकी पर्यायों का एक ही रूप से कथन करना या वैसा ज्ञान होना। जैसे--'जीव' शब्द से सभी एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय प्राणियों को एक कोटि में रखा जाता है। 'भारतीय' कहने से स्त्री, पुरुष, बाल, युवा, गरीब, अमीर आदि सभी भारतवासियों का बोध होता है।

(३) **व्यवहार नय**--समष्टि को गौण करके व्यष्टि का कथन या ज्ञान व्यवहार नय है। इसमें संग्रह नय से गृहीत पदार्थों का अन्त तक विधिपूर्वक भेद करते जाते हैं। जैसे, 'जीव' के दो भेद—संसारी और मुक्त। संसारी के ४ भेद—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकी। 'भारतीय' के अन्य भेद--उत्तरप्रान्तीय, दक्षिणप्रान्तीय आदि)।

(४) **ऋजुसूत्र नय**--भूत और भावि पर्यायों को छोड़कर वर्तमान पर्याय को ग्रहण करने वाला वचन या ज्ञान ऋजुसूत्र नय है। यद्यपि एक पर्याय एक समय तक ही रहती है (क्योंकि वस्तु प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है। इस सिद्धान्त से) परन्तु व्यवहार से स्थूल पर्याय का ग्रहण करना। जैसे जन्म से मृत्यु तक एक मनुष्य पर्याय मानना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(५) **शब्द नय**--शब्द के लिङ्ग, संख्या, कारक, उपसर्ग, काल आदि के भेद से वाच्यार्थ में भेद करना अर्थात् लिङ्ग आदि के व्यभिचार को दूर करने वाले वचन और ज्ञान को शब्द नय कहते हैं। भिन्न-भिन्न लिंग वाले शब्दों का एक ही वाच्य मानना लिंग-व्यभिचार है। जैसे—स्त्रीवाचक नारी (स्त्रीलिंग) और कलत्रम् (नपुंसकलिंग) ये भिन्न-भिन्न लिंग वाले होने से पर्यायवाची नहीं बन सकते। इसी तरह 'होने वाला कार्य हो गया' यहाँ काल व्यभिचार है, 'कृष्ण ने (कर्तृकारक) मारा' और 'कृष्ण को (कर्मकारक) मारा' यहाँ कृष्ण में कारक व्यभिचार है।

(६) **समभिरूढ़ नय**—लिङ्गादि का भेद न होने पर भी शब्द व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ-भेद करना समभिरूढ़ नय है। जैसे—इन्द्र (आनन्दयुक्त), शक्र (शक्तिशाली) और पुरन्दर (नगर-विदारक) में; राजा (शोभायमान), भूपाल (पृथिवीपालक) और नृप (मनुष्यों का पालक) में लिङ्गादि-व्यभिचार नहीं है। अतः ये परस्पर एकार्थवाची होने से शब्दनय की दृष्टि से पर्यायवाची हो सकते हैं परन्तु इन शब्दों की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न होने से समभिरूढनय की दृष्टि से ये एकार्थवाची नहीं हैं। अतः पर्यायवाची नहीं बन सकते। इस तरह शब्दभेद से अर्थभेद करना समभिरूढ़नय का कार्य है।

(७) **एवम्भूत नय**—जिस शब्द का जिस क्रिया रूप अर्थ हो, उस क्रियारूप से परिणत पदार्थ को ही ग्रहण करने वाला वचन या ज्ञान एवम्भूतनय है। इस नय की दृष्टि से सभी शब्द क्रियावाचक हैं। अतः शब्द के वाच्यार्थ का निर्धारण उसकी क्रिया के आधार पर किया जाता है। जैसे आनन्दोपभोग करते समय ही देवराज को इन्द्र कहना, अध्यापक जब पढ़ा रहा हो तभी अध्यापक कहना; आदि।

ये सातों नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म-विषयग्राही हैं। लक्षणा और व्यञ्जना वृत्तियों का प्रयोग नैगमनय के ही अधीन है। जब वस्तु का कथन किसी एक नय की दृष्टि से किया जाता है तो वहाँ अन्य नयों की दृष्टि को गौण कर दिया जाता है। नय वस्तु के एकांश या एक धर्म को ही ग्रहण करता है। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म पाये जाते हैं जिनमें से एक-एक नय एक-एक धर्म को विषय करता है। यदि कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक नय की दृष्टि को ही पूर्ण सत्य समझेगा तो वह दुर्नयानुगामी कहलायेगा। आवश्यकतानुसार एक को मुख्य और शेष को गौण करते हुए सातों नयों की सापेक्षता से ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जाना जा सकता है।

इस तरह नय और निक्षेप विधियों के द्वारा ही वाक्यार्थ तथा शब्दार्थ का निर्धारण जैनदर्शन में किया जाता है। यहाँ इतना विशेष है कि वाच्यार्थ न केवल विधिरूप होता है और न केवल निषेधरूप। जब हम विधि का कथन करते हैं तो वहाँ निषेध (अन्य-व्यावृत्ति) गौण रहता है और जब निषेध का कथन करते हैं तो वहाँ विधि गौण होता है। शब्दों के द्वारा एक साथ विधि-निषेध का कथन नहीं किया जा सकता; अतः उसे अवक्तव्य कहा जाता है। इस कथन-प्रक्रिया को जैनदर्शन में सप्तभङ्गी शब्द से कहा गया है--(१) स्यादस्ति, (स्वापेक्षया विधि कथन), (२) स्यान्नास्ति (परापेक्षया निषेध-कथन), (३) स्यादस्ति नास्ति (स्व-परापेक्षया विधि-निषेध का क्रमशः कथन), (४) स्यादवक्तव्य (स्व-परापेक्षया विधि-निषेध का युगपत् कथन), (५) स्यादस्ति अवक्तव्य, (६) स्यान्नास्ति अवक्तव्य, और (७) स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य। अन्तिम तीन भङ्ग ऊपर के चार भङ्गों के सम्मिश्रण हैं।

जैन दर्शन में वाच्यार्थ के सत्यासत्य का भी विस्तार से विचार किया गया है। सर्वत्र अनेकान्तदृष्टि या स्याद्वाददृष्टि का सहारा लिया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जालिहरगच्छ का संक्षिप्त इतिहास

—शिव प्रसाद

विद्याधरकुल (बाद में विद्याधरगच्छ) की द्वितीय शाखा जालिहर (प्राचीन जाल्योधर) नामक स्थान से सम्बद्ध होने के कारण जालिहर-गच्छ / जाल्योधरगच्छ के नाम से विख्यात हुई। यह गच्छ कब और किस कारण से अस्तित्व में आया? इस गच्छ के पुरातन आचार्य कौन थे, इस बारे में सूचना अनुपलब्ध है। यद्यपि इस गच्छ के इतिहास के अध्ययन के लिये साहित्यिक साक्ष्यों के अन्तर्गत मात्र दो प्रशस्तियां तथा अभिलेखीय साक्ष्यों के अन्तर्गत कुल ८ प्रतिमालेख ही उपलब्ध हैं, तथापि उनमें इस गच्छ के इतिहास पर प्रकाश डालने के लिये पर्याप्त विवरण संग्रहीत हैं। सम्प्रति लेख में उन्हीं साक्ष्यों के विवेचन के आधार पर इस गच्छ के इतिहास पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

अध्ययन की सुविधा हेतु सर्वप्रथम साहित्यिक साक्ष्यों, तत्पश्चात् अभिलेखीय साक्ष्यों का विवरण एवं विवेचन किया गया है-

साहित्यिक साक्ष्य

१. नन्दिपददुर्गवृत्ति[1]—इस रचना की वि० सं० १२२६ / ई० सन्

शोध अध्येता, प्रा० भा० इ० सं० और पुरातत्त्व विभाग,
का० हि० वि० वि० वाराणसी।

१. संवत् १२२६ वर्षे द्वितीय श्रावण शुदि ३ सोमऽद्येह मंडलीवास्तव्य श्रीजाल्योधरगच्छे मोढ़वंसे श्रावकश्रीसदेवसुतेन ले० पल्हणेन लिखिता। लिखापिता च गुणभद्रसूरिभिः ॥
सकलभुवनप्रकाशनभानुश्रीहेमचन्द्रसुगुरूणाम् ।
स्थापयिताऽऽसीद् भाण्डागारिकसोमारकसुश्राद्धः ॥१॥
मरुदेवागर्भजया तत्सुतया सीमिकाह्वया क्रीत्वा ।
नन्द्यध्ययनसुविवरणटिप्पितपुस्तकमिदमुदारम् ॥२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११६९ की एक प्रति जैसलमेर के ग्रन्थभंडार में संरक्षित है। इस प्रति की दाताप्रशस्ति से ज्ञात होता है कि जालिहरगच्छीय बालचन्द्रसूरि के शिष्य गुणभद्रसूरि की प्रेरणा से यह प्रतिलिपि लिखी गयी।

जालिहरगच्छीय बालचन्द्रसूरि

|

गुणभद्रसूरि [वि० सं० १२२६ / ई० सन् ११६९ में इनकी प्रेरणा से नन्दिपददुर्गवृत्ति की प्रतिलिपि की गयी]

२. **पद्मप्रभचरित**[1]—जालिहरगच्छीय देवप्रभसूरि ने वि. सं १२५४/ ई० सन् ११९८ में प्राकृत भाषा में इस महत्त्वपूर्ण कृति की रचना की। कृति के अन्त में प्रशस्ति के अन्तर्गत उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा का विस्तृत वर्णन किया है, जो इस गच्छ के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस प्रशस्ति में उल्लिखित गुरु-परम्परा इस प्रकार है—

बालचन्द्रसूरि

|

गुणभद्रसूरि

|

सर्वाणंदसूरि

|

धर्मघोषसूरि

|

देवसूरि [वि. सं. १२५४/ई सन् ११९८ में पद्मप्रभ-चरित के रचनाकार]

मुनिबालचन्द्रशिष्यश्रीमद्गुणभद्रसूरिसुगुरुभ्यः ।
दत्तमुपलभ्य वर्यं फलममलं ज्ञानदानस्य ॥३॥

Muni Punyavijaya–Catalogue of Sanskrit & Prakrit MSS : Jesalmer Collection, (Ahmedabad 1972) No. 76 P. 25

1. Dalal, C. D.—Descriptive Catalogue of Manuscripts in Jaina Bhandars at Pattan (Baroda-1937) pp. 210-213

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभिलेखीय साक्ष्य—जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा गया है, जालिहरगच्छ से सम्बद्ध ८ प्रतिमालेख मिलते हैं। इनमें से सर्वप्रथम अभिलेख वि० सं० १२१३/ई० सन् ११५७ का है। लेख इस प्रकार है—

सं० [०] १२१३ वैशाख वदि ५ जोराउद्रग्रामे श्रीवीसिवदेव्या श्रीजाल्योधरगच्छे ॥

प्रतिष्ठास्थान—जैन मंदिर, अजारी

मुनि जयन्तविजय—अर्बुदाचलप्रदक्षिणाजैनलेखसंदोह, लेखाङ्क ४०८।

यद्यपि उक्त लेख में जालिहरगच्छ के किसी आचार्य का उल्लेख नहीं है, फिर भी इस गच्छ का उल्लेख करने वाला सर्वप्रथम साक्ष्य होने के कारण यह महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

इस गच्छ से सम्बद्ध द्वितीय लेख वि० सं० १२९६/ई० सन् १२४० का है, जो भगवान् नेमिनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण है।[1] इस लेख में जालिहरगच्छीय देवसूरि के शिष्य हरिभद्रसूरि का प्रतिमाप्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में उल्लेख है।

देवसूरि
|
हरिभद्रसूरि [वि०सं० १२९६/ई० सन् १२४० में नेमिनाथ की प्रतिमा के प्रतिष्ठापक]

जालिहरगच्छ से सम्बद्ध तृतीय लेख वि० सं० १३३१ / ई० सन् १२७५ का है। यह लेख सलखणपुर स्थित जिनालय में प्रतिष्ठापित पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण है।[2] इस लेख में प्रतिमाप्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में हरिप्रभसूरि का उल्लेख है।

---

१. सोमपुरा, कान्तिलाल फूलचन्द—"घोघाना अप्रकट प्रतिमा लेखो" श्री महावीर जैन विद्यालय सुवर्णमहोत्सव अंक (बम्बई १९६१ ई०) भाग १, पृ० १११-११७

२. मुनि जिनविजय—संपा० प्राचीनजैनलेखसंग्रह भाग २ (भावनगर १९२१ ई०) लेखांक ४८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य हरिप्रभसूरि द्वारा वि० सं० १३४९ / ई० सन् १२९३ और वि० सं० १३५९/ई० सन् १३०३ में प्रतिष्ठापित एक-एक जिनप्रतिमायें मिली हैं, जो क्रमशः सलखणपुर[1] और घोघा[2] के जिनालयों में आज संरक्षित हैं। वि० सं० १३४९/ई० सन् १२९३ के लेख में प्रतिष्ठापक आचार्य हरिप्रभसूरि की गुरु-परम्परा दी गयी है, जो इस प्रकार है—

देवसूरि
|
हरिभद्रसूरि
|
हरिप्रभसूरि [वि० सं० १३४९ / ई० सन् १२९३ में महावीर स्वामी की प्रतिमा के प्रतिष्ठापक]

जालिहरगच्छ से सम्बद्ध छठाँ अभिलेख वि० सम्वत् की चौदहवीं शती के अन्तिम दशक का है। लेख का एक अंक नष्ट हो गया है, शेष ३ अंक स्पष्ट पढ़े जा सके हैं। मुनिविजयधर्मसूरि[3] ने इस लेख की वाचना इस प्रकार दी है—

स (सं)० १३९— वैशाख शुदी (दि) ३ मोढवंशे श्रे० पाजान्वये व्य० देवा सुत व्य० मुंजालभार्यायें (यर्या) व्य० रत्नदिव्या आत्मश्रेयोई (ऽ) थं श्रीनेमिनाथबिंबं कारितं प्रतिष्टी (ष्ठि) तं श्रीजाल्योद्धरगच्छे श्रीसर्वाणंदसु (सू) री (रि) संताने श्रीदेवसूरी (रि) पट्टभूषणमणिप्रभु श्रीहरी (रि) भद्रसूरी (रि) शिष्ये (?) सुविहितनामधेयभट्टारकश्रीचंद्र-सिंहसूरी (रि) पट्ट (ट्टा) लंकरण श्रीविबुधप्रभसूरीणां श्रीपाजाब (व) सहीकायां भद्रं भवतु।

इस लेख में जाल्योधरगच्छ के आचार्य विबुधप्रभसूरि की विस्तृत गुरु-परम्परा दी गयी है, जो इस प्रकार है—

---

१. प्राचीन जैन लेख संग्रह, लेखांक ४८४
२. सोमपुरा, पूर्वोक्त
३. विजयधर्मसूरि— संपा० प्राचीनलेखसंग्रह (भावनगर १९२७ ई०) लेखांक ९७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वाणंदसूरि
|
देवसूरि
|
हरिभद्रसूरि
|
चन्द्रसूरि
|
विबुधप्रभसूरि [वि० सं० १३९…? में नेमिनाथ की प्रतिमा के प्रतिष्ठापक]

जालिहरगच्छ से सम्बद्ध सातवां अभिलेख वि० सं० १४२३/ई० सन् १३६७ का है, जो चौमुखजी देरासर, अहमदाबाद में प्रतिष्ठापित भगवान् शान्तिनाथ की धातु की प्रतिमा पर उत्कीर्ण है।[1] इस लेख में इस गच्छ के आचार्य ललितप्रभसूरि का प्रतिमा प्रतिष्ठापक के रूप में उल्लेख है।

जालिहरगच्छ से सम्बद्ध एक अन्य अभिलेख[2] भी मिला है, परन्तु उसमें न तो प्रतिमा के प्रतिष्ठापना की मिति/तिथि का उल्लेख है और न ही प्रतिमा के प्रतिष्ठापक आचार्य का; अतः यह लेख महत्त्वहीन कहा जा सकता है।

साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर जालिहरगच्छीय मुनिजनों की गुरु-परम्परा की एक तालिका निर्मित होती है, जो इस प्रकार है—

बालचन्द्रसूरि
|
गुणभद्रसूरि [नंदिपददुर्गवृत्ति की वि० सं० १२२६ की प्रति में उल्लिखित]
|
सर्वाणंदसूरि [पार्श्वनाथचरित वर्तमान में अनुपलब्ध के रचनाकार]

१. प्राचीन लेख संग्रह, पूर्वोक्त लेखाङ्क ७६
२. विनयसागर—संपा० प्रतिष्ठालेखसंग्रह (कोटा १९५३ ई०) लेखाङ्क २३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

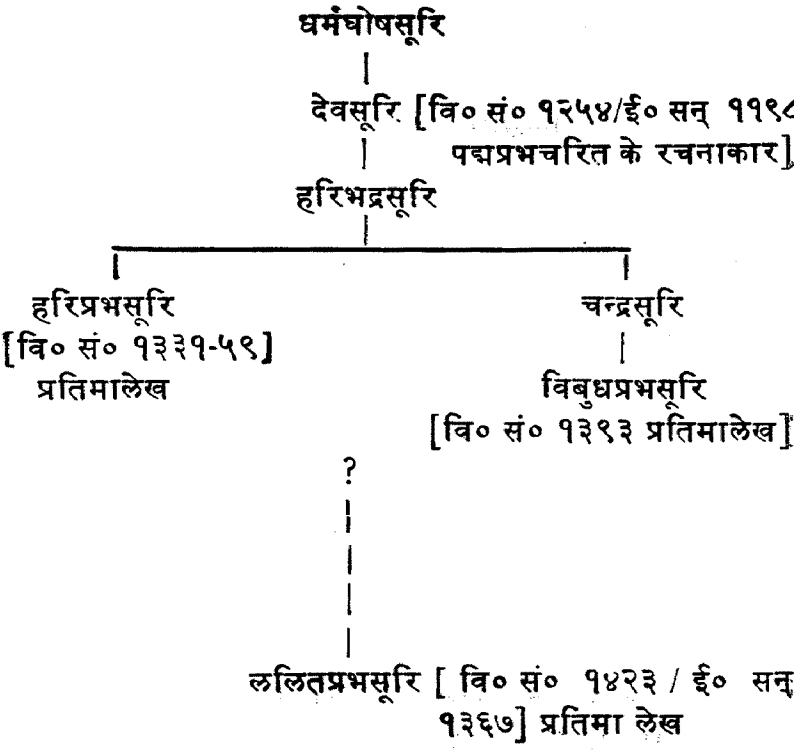

उक्त साक्ष्यों के आधार पर विक्रम की तेरहवीं शती के प्रारम्भ से १५वीं शती के प्रथमचरण तक इस गच्छ का अस्तित्व सिद्ध होता है। जहां अन्य गच्छों से सम्बद्ध साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं, वहीं इस गच्छ से सम्बद्ध साक्ष्यों की विरलता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि अन्य गच्छों की अपेक्षा इस गच्छ के मुनिजनों और श्रावकों की संख्या अल्प थी। १५वीं शती के द्वितीय चरण से इस गच्छ से सम्बद्ध कोई भी साक्ष्य नहीं मिला है, अतः यह माना जा सकता है कि इस गच्छ के मुनिजन और उपासक किन्हीं अन्य गच्छ में सम्मिलित हो गये होंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत जैनागम परम्परा मे गृहस्थाचार तथा उसकी पारिभाषिक शब्दावली

—डॉ० कमलेश जैन

भारतीय चिन्तन परम्पराओं में विचार और आचार को समान स्थान दिया गया है। विचार या दर्शन आन्तरिक पक्ष है और आचार या धर्म उन विचारों, आदर्शों या सिद्धान्तों का क्रियात्मक अथवा बाह्य पक्ष है। इस प्रकार विचारों का व्यावहारिक रूप ही आचार या चारित्र है। नैतिकता तथा संयमी-जीवन आचार के मूलाधार हैं। किसी भी प्रस्थान या परम्परा में जो नैतिक नियम, प्रति-नियम होते हैं, उन नियम-विधानों का जीवन-व्यवहार में उपयोग होना तत् तद् परम्परा का आचार कहा जाता है। अतएव जिस आचार अथवा आचरण के मूल में नैतिकता का समावेश नहीं होता, वह आचार आदर्श आचार की संज्ञा को प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसा आचार त्याज्य होता है, छोड़ने योग्य होता है। भिन्न-भिन्न धार्मिक-दार्शनिक परम्पराओं में जो विधि-निषेध परक विधान उपलब्ध होते हैं, उन सबका उद्देश्य उपर्युक्त नैतिकता का संचार एवं संयमी जीवन का प्रतिपादन रहा है।

प्रायः प्रत्येक धर्म-दर्शन की आचार संहिता में एक विशेष प्रकार की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया गया है। अनेक शब्दों की समानता होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से उनमें भिन्नता देखी जाती है। अनेक शब्द ऐसे हैं, जो तत् तद् धर्म-दर्शनों की आचार संहिता में विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। ऐसे शब्दों में बहुत से शब्द इस प्रकार के भी हैं जो मात्र उसी धर्म-दर्शन परम्परा तक सीमित हैं।

रिसर्च एसोसिएट, प्राकृत एवं जैन दर्शन विभाग,
सं० सं० वि० वि०, वाराणसी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव या आत्मतत्त्व के स्वतंत्र ज्ञान के परिज्ञान से पूर्व तक भारतीय चिन्तन स्वर्ग प्राप्ति को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानता था। जीवन या आत्मतत्त्व की खोज के बाद मोक्ष को अन्तिम तत्त्व और चार पुरुषार्थों में चरम पुरुषार्थ माना गया। जीव को जड़ (अजीव-अचेतन) के बन्धन से मुक्त कराने की प्रक्रिया में से मोक्ष प्राप्ति के उपायों का चिन्तन हुआ। एतदर्थ संन्यस्त जीवन को सभी भारतीय दर्शनों ने साधना की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया और उसकी आचार संहिता का प्रतिपादन हुआ। संन्यस्त होने से पूर्व गार्हस्थ जीवन व्यतीत करते हुए साधना की ओर कैसे बढ़ा जा सकता है, इसके लिए भी आचार संहिता निर्मित की गई। जैन परम्परा में मोक्ष की साधना के लिए श्रमण और श्रावक की आचार संहिता का विवेचन किया गया।

प्राकृत जैनागम परम्परा में आचार के परिपालन के लिए वस्तुतत्त्व के प्रति सद्दृष्टि और तत्त्वों का परिज्ञान अनिवार्य माना गया है। बिना इसके चारित्र-आचार का पालन सम्यक् नहीं हो सकता। यह चारित्र श्रमण का हो अथवा गृहस्थ का, दोनों के लिए सद्दृष्टि और सम्यक्ज्ञान अनिवार्य है। इसके बाद ही वह चारित्र की सीढ़ी पर अपना प्रथम चरण रखता है, क्योंकि बिना सद्दृष्टि और सम्यक्ज्ञान के हेय-उपादेय का विवेक जाग्रत नहीं होता। इस कारण चारित्र या आचार में सम्यक्त्वता नहीं आ पाती। चारित्र का प्रतिपादन करते हुए यह भी कहा गया है कि सर्वप्रथम श्रमणधर्म का विवेचन करना चाहिए, क्योंकि श्रामण्य के बिना मोक्ष सम्भव नहीं है। प्राचीन जैनपरम्परा में भी श्रमणधर्म का ही प्रतिपादन होता रहा है। संभवतः इसीलिए आचारांग जैसे आचार का विवेचन करने वाले ग्रन्थ में उपासक, श्रावक या गृहस्थ आदि शब्द देखने को नहीं मिलते। यहाँ मूलतः श्रमण जीवन की दृष्टि से विषयों का प्रतिपादन हुआ है। यदि व्यक्ति सीधे श्रमणधर्म को स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाता है तो उसे गृहस्थ जीवन में रहते हुए उपासक या श्रावक की आचार संहिता का पालन कर श्रामण्य प्राप्त करने की ओर उन्मुख होना चाहिए। इसीलिए एकादश (११) प्रतिमाओं में अन्तिम को 'श्रमणभूत' प्रतिमा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा गया है। इस तरह जैनपरम्परा में दो प्रकार से आचारसंहिता के विधान मिलते हैं :—

१ श्रमणाचार,

२. श्रावकाचार या उपासकाचार।

प्रस्तुत निबन्ध में श्रावकाचार एवं उसकी पारिभाषिक शब्दावली पर संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

प्राकृत जैनागम परम्परा में व्रतधारी गृहस्थ के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं—जैसे–अणुव्रती, देशविरत, अगारी, उपासक, श्रमणोपासक, सागार, अगारिक, श्रावक, श्रमणभूत आदि और उसके आचार तथा धर्म को गृहधर्म, श्रावकधर्म, अगारधर्म, उपासकधर्म उपासक प्रतिमा आदि कहा गया है।

श्रावकाचार जिन, अर्हत् या तीर्थङ्करों द्वारा गृहस्थ की जीवन पद्धति के लिए निर्दिष्ट एक विशिष्ट आचारसंहिता है। प्राकृत साहित्य में व्रतधारी गृहस्थ के लिए दो शब्दों का व्यवहार बहुलता से हुआ है–(१) सावग या सावय और (२) उपासग। इसी कारण सावग या श्रावक की जीवन पद्धति के लिए आचारसंहिता विषयक जिन ग्रन्थों का निर्माण हुआ, उनके नाम सावग या सावयधम्म, उपासगाचार, उवासयाज्झयण आदि दिये गये। बाद में इसी आधार पर संस्कृत में लिखे गये ग्रन्थों के श्रावकधर्म, श्रावकाचार, उपासकाध्ययन, उपासकाचार आदि नाम रखे गये। गृहस्थ श्रद्धापूर्वक अपने गुरुजनों अर्थात् श्रमणों से निर्ग्रन्थप्रवचन का श्रोता होने से श्रावक कहलाता है। श्रमण का उपासक होने के कारण उसे श्रमणोपासक या उपासक कहा गया है। श्रावक एकदेश रूप अणुव्रत धारण करता है, इसलिए उसे अणुव्रती या देशविरत भी कहा गया है। श्रमण सर्वविरत कहलाता है परन्तु श्रावक उसके समान अहिंसादि व्रतों का पूर्ण रूप से पालन नहीं करता, इसलिए इसके व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। श्रावक प्रायः घर में रहता है, अर्थात् उसके द्वारा घर का त्याग नहीं किया जाता, इसलिए उसके लिए सागार, आगारी, गृही, गृहस्थ आदि नामों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसी कारण सागार धर्म, श्रावकधर्म आदि नामों से भी ग्रन्थों की रचना की गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकर महावीर के उपदेशों का संकलन जिन बारह अंगों में किया गया था उनमें 'उपासगदशांग' नामक एक अंग में श्रावकाचार का विवेचन था। उपलब्ध अर्धमागधी आगमों में सातवें अंग 'उवासग-दसाओ' में श्रावकाचार का विवरण प्राप्त होता है। इसमें महावीर के दश प्रमुख उपासकों की कथाएँ हैं। उनमें प्रथम आनन्द श्रावक की कथा में श्रावकाचार का वर्णन किया गया है। उपलब्ध श्रावकाचार विषयक साहित्य के अन्तःनिरीक्षण से ज्ञात होता है कि सुदूर अतीत से आजतक सहस्रों वर्षों में इस आचार संहिता में देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार जैन मनीषियों द्वारा अनेक नये नियम-उप-नियम सम्मिलित किये गये। तीर्थंकर परम्परा से प्राप्त जिस तात्विक चिन्तन की आधारभूमि पर इस आचारसंहिता का निर्माण हुआ था, उसमें निरन्तर वृद्धि हुई। इन नियम-उपनियमों के सम्मिलन से परम्परा प्राप्त आचारविषयक प्रचुर पारिभाषिक शब्दावली में और भी वृद्धि हुई है।

श्रावकाचार विषयक ग्रन्थों में श्रावक या उपासक-धर्म का प्रति-पादन तीन प्रकार से प्राप्त होता है--(१) बारह व्रतों के आधार पर, (२) ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर और (३) पक्ष, चर्या अथवा निष्ठा एवं साधन के आधार पर। उवासगदसाओ उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र, स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डक श्रावकाचार आदि ग्रन्थों में सल्लेखना के साथ बारह व्रतों के आधार पर श्रावक की आचार-संहिता का प्रतिपादन किया गया है। कुन्दकुन्द के चरितपाहुड, स्वामी कार्तिकेय के अणुवेक्खा और वसुनन्दिकृत श्रावकाचार में प्रतिमाओं के आधार पर श्रावकाचार का निरूपण है। आशाधरकृत सागारधर्मामृत में पक्ष, निष्ठा एवं साधना के आधार पर श्रावक की आचारसंहिता का विवेचन किया गया है।

श्रावक अहिंसादि पाँच व्रतों का पालन करता है। श्रमण जिनका पूर्ण रूप से पालन करता है, उन्हीं व्रतों का श्रावक एकदेश रूप आंशिक पालन करता है। इसलिए उसके व्रत देशव्रत और अणुव्रत कहे जाते हैं। पाँच अणुव्रत इस प्रकार हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये पाँचों अणुव्रत श्रावक के मूलगुण कहे गये हैं। शेष गुण इन्हीं गुणों में दृढ़ता, स्थैर्य, विकास, पुष्टि और रक्षा करने वाले हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक अणुव्रत में स्थिरता, दृढ़ता एवं विकास के लिए पाँच-पाँच भावनाओं का विवेचन किया गया है। अहिंसाणुव्रत में स्थिरता लाने के लिए वचनगुप्ति, मनगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपान भोजन ये पाँच भावनाएँ विवेचित की गई हैं। सत्याणुव्रत की क्रोध प्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीचिभाषण ये पाँच भावनाएँ बतलायी गयी हैं। अचौर्य या अस्तेय अणुव्रत में स्थिरता के लिए शून्यागार, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसंवाद, इन पाँच भावनाओं का उल्लेख किया गया है। ब्रह्मचर्य अणुव्रत में दृढ़ता का विकास करने के लिए स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग, स्त्रीमनोहराङ्गनिरीक्षणत्याग, पूर्वरतानुस्मरणत्याग, वृष्येष्टरसत्याग और स्वशरीरसंस्कार त्याग, इन पाँच भावनाओं का विवेचन किया गया है। अपरिग्रहाणुव्रत की पाँच भावनाओं के रूप में इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों में राग नहीं करना और अमनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना, इत्यादि का विवेचन किया गया है। इन अहिंसादि अणुव्रतों की रक्षा के लिए मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ, इन चार भावनाओं का निरन्तर अभ्यास करना भी आवश्यक बतलाया गया है।

अणुव्रतों के पूर्ण पालन के लिए प्रत्येक अणुव्रत के पाँच-पाँच अतिचार भी बताए गये हैं, जिन्हें व्रतों के उपनियम कहा जा सकता है। अहिंसाणुव्रती श्रावक स्थूल त्रसहिंसा का त्याग तो करता ही है, साथ स्थावर जीवों की हिंसा का भी यथाशक्ति त्याग करता है। इस व्रत में शुद्धि के लिए पाँच अतिचारों का त्याग अपेक्षित बताया गया है। वे अतिचार इसप्रकार हैं—बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण, और अन्नपाननिरोध। सत्याणुव्रत के पाँच अतिचारों में मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद का विवेचन किया गया है। अचौर्य या अस्तेयाणुव्रत का पूर्णतः पालन करने के लिए स्तेनप्रयोग, स्तेन-आहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपकव्यवहार, इन पाँच अतिचारों का त्याग आवश्यक बताया गया है। ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचारों में परविवाहकरण, इत्वरिकापरिगृहीतागमन, इत्वरिका-अपरिगृहीतागमन अनंगकीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश का विवेचन किया गया है। परि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रहपरिमाण अणुव्रत के अतिचारों में क्षेत्र और वास्तु के प्रमाण का अतिक्रम, हिरण्य और सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रम, धन-धान्य के प्रमाण का अतिक्रम, दासी और दास के प्रमाण का अतिक्रम एवं कुप्य के प्रमाण के अतिक्रम का वर्णन किया गया है।

व्रतों के अतिरिक्त श्रावक द्वारा सातशीलों का पालन आवश्यक बतलाया गया है। अहिंसादि जो पाँच व्रत हैं, वे मूलभूत हैं, उन्हीं व्रतों की ये सात शील परिधा (खाईं) की तरह रक्षा करते हैं। इसलिए इन्हें "शील" शब्द से अभिहित किया गया है। वे सातशील इस प्रकार हैं—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परिमाण और अतिथिसंविभागव्रत। इन शीलों को दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रारम्भ के तीन गुणव्रत हैं और अन्त के चार शिक्षाव्रत कहे गये हैं। इन व्रतों से सम्पन्न श्रावक के लिए जीवन के अन्तिम समय में एक और व्रत धारण करने का विधान है, जिसे सल्लेखना, समाधिमरण, संथारा आदि नामों से अभिहित किया गया है।

श्रावक सात शीलव्रतों का पालन करता है। इसके अन्तर्गत तीन गुणव्रत दिग्व्रत, देशव्रत या देशावकाशिक, अनर्थदण्डव्रत और चारशिक्षा-व्रत-सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग, ये सात ग्रहण किये जाते हैं। विभिन्न आचार्यों में गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के नामों एवं क्रम में परस्पर भिन्नता पायी जाती है। इन सात शीलव्रतों अर्थात् गुणव्रत और शिक्षाव्रतों में वृद्धि, पुष्टि, रक्षा एवं पूर्ण पालन के लिए इनमें प्रत्येक के पाँच-पाँच अतिचारों का विवेचन किया गया है, जो श्रावक के द्वारा जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं। दिग्विरति के ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान पाँच अतिचार बतलाए गये हैं। देश-विरति या देशावकाशिक के पाँच अतिचारों का उल्लेख इसप्रकार किया गया है—आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, पुद्गल-क्षेप। अनर्थदण्डविरति के पाँच अतिचार बताए गये हैं—अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादाचरित, हिंसादान और अशुभश्रुति। सामायिक के निम्नलिखित अतिचार बताए गये हैं—कायदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान। प्रोषधोपवास के अतिचार रूप में अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान का उल्लेख किया गया है। उपभोग परिभोगपरिमाण के पाँच अतिचारों में सचित्ताहार, सचित्तसम्बन्धाहार, सचित्तसंमिश्राहार, अभिष्व आहार और दुष्पक्वाहार का विधान किया गया है। अतिथिसंविभाग के सचित्तनिक्षेप, सचित्तविधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पाँच अतिचार बताए गये हैं। सल्लेखना, समाधिमरण या संथारा के लक्षणपूर्वक उसके जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान, इन अतिचारों का उल्लेख है।

श्रावक के दैनन्दिन कार्यों में षट्कर्मों का पालन भी आवश्यक बतलाया गया है। ये षट्कर्म इसप्रकार हैं—(१) देवपूजा, (२) गुरुभक्ति, (३) स्वाध्याय, (४) संयम, (५) तप और (६) दान। व्रतों की पुष्टि के लिए मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थभाव इन चार भावनाओं का विधान है।

श्रावक के चारित्रिक विकास की ग्यारह श्रेणियाँ बतायी गयी हैं उन्हें 'प्रतिमा' शब्द से अभिहित किया गया है, जो निम्नप्रकार हैं—(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषध, (५) सचित्तविरत, (६) दिवामैथुनविरत या रात्रिभुक्तित्याग, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भत्याग, (९) परिग्रहत्याग, (१०) अनुमतित्याग और (११) उद्दिष्टत्याग। ग्यारहवीं प्रतिमा के क्षुल्लक और ऐलक दो भेद किये गये हैं। इन प्रतिमाओं के नाम और क्रम में आचार्यों में भिन्नता देखी जाती है। इस प्रकार अन्तिम प्रतिमा तक पहुँचते-पहुँचते श्रावक श्रमण की आचारसंहिता का पालन करने में सक्षम हो जाता है इसलिए ग्यारहवीं प्रतिमा को श्रमणभूत भी कहा गया है। श्रावकाचार का पालन करते हुए यदि आयु पूर्ण हो जाती है तो वह सल्लेखना या समाधिमरण अथवा संथारापूर्वक अपने श्रावक धर्म को पूर्ण करता है। आयु शेष रहने पर श्रमणाचार को अंगीकार कर लेता है।

श्रावक

व्रतधारी गृहस्थ श्रावक कहलाता है। यह श्रावक विवेकवान्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरक्त चित्त और अणुव्रती होता है। वह श्रद्धापूर्वक अपने श्रमण गुरुजनों से निर्ग्रन्थ धर्म का प्रवचन सुनता है, इसलिए उसे श्रावक कहते हैं।[1] व्रतधारी को उपासक, अणुव्रती, देशविरत, सागार, देशचारित्रिन्, श्रमणोपासक आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। ये सभी शब्द पर्यायवाची होते हुए भी अपना स्वतन्त्र सार्थक्य रखते हैं। श्रावक, श्रमणवर्ग अथवा श्रामण्य की उपासना करता है, इसलिए उसे श्रमणोपासक या उपासक भी कहा जाता है, श्रावक अणुव्रती होता है। यह व्रतों का एकदेश पालन करता है, पूर्णरूप से नहीं। इसलिए इसके व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं। श्रावक के आचार की दार्शनिक व्याख्या करते हुए कहा गया है कि चारित्रमोह कर्म के भेद रूप अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम निमित्तक परिणामों की प्राप्ति के समय आत्मविशुद्धि का प्रकर्ष होता है। उस विशुद्धि के कारण ही व्यक्ति श्रावक का आचार ग्रहण कर पाता है, अन्यथा नहीं। इस विशुद्धि के बिना व्यक्ति की सम्यक् आचार में प्रवृत्ति ही नहीं होती। वस्तुतः व्रत, अणु या महत् नहीं होते, आधार भेद से वे इस विशेषण को प्राप्त होते हैं।[2]

यह सागार या श्रावक पाँच अणुव्रत, चार शिक्षाव्रत और तीन गुणव्रत, इस तरह बारह प्रकार का संयमाचरण चारित्र धारण करता है। जीवन के अन्त में सल्लेखना पूर्वक मृत्यु का वरण करता है, आवाह्न करता है अथवा ग्यारह प्रतिमाएँ धारण करता है। ये प्रतिमाएँ वैराग्य की प्रकर्षता से उत्तरोत्तर श्रेणियाँ हैं। अपनी शक्ति को न छिपाता हुआ श्रावक क्रमशः ऊपर उठता जाता है। अन्तिम श्रेणी में वह श्रमण से किंचित् न्यून रहता है।[3]

---

१. शृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकः। सा० ध०, टी० १।१५

२. चारित्रमोहकर्मविकल्पाप्रत्याख्यानावरणक्षयोपशमनिमित्तपरिणामप्राप्तिकाले विशुद्धिप्रकर्षयोगात् श्रावको···। स० सि० ९।४५

३. पंचेवाणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिपिण।
सिक्खावय चत्वारि य संजमवरणं व सायारं॥ वा० पा० २२

उपासग० १ २३-४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रावक तीन प्रकार के बताए गए हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। ये हिंसा-शुद्धि के तीन प्रकार हैं। इनसे हिंसा आदि से अर्जित पाप नष्ट होते हैं।[1]

पाक्षिक श्रावक

असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भ कार्यों से गृहस्थों से हिंसा होना सम्भव है, तथापि पक्ष, चर्या और साधकपन तीनों से हिंसा का निवारण किया जाता है। इनमें से सदा अहिंसा रूप परिणाम रखना पक्ष है।[2] पक्षयुक्त श्रावक पाक्षिक कहलाता है अथवा निर्ग्रन्थ देव, गुरु तथा धर्म को ही मानना पक्ष है, ऐसे पक्षयुक्त श्रावक पाक्षिक कहे जाते हैं। इन श्रावकों की वृत्ति, मैत्री, प्रमोद, करुणा व माध्यस्थ वृत्ति रूप होती है।

चर्या, नैष्ठिक, श्रावक धर्म के लिए, किसी देवता के लिए, किसी मन्त्र को सिद्ध करने के लिए, औषधि के लिए और अपने भोगोपभोग के लिए, कभी हिंसा नहीं करते। यदि किसी कारण से हिंसा हो ही गई हो तो विधिपूर्वक विशुद्धता धारण करते हैं तथा परिग्रह का त्याग करने के समय अपने घर, धर्म और अपने वंश में उत्पन्न हुए पुत्र आदि को समर्पण कर जबतक वे घर को परित्याग करते हैं, तबतक उनके चर्या कहलाती है। यह चर्या दार्शनिक से अनुमतिविरत प्रतिमा पर्यन्त होती है।[3] जीवहिंसा न करते हुए न्यायपूर्वक आजीविका का उपार्जन

---

१. पादिकादिभिः त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिकः।
नैष्ठिकः साधकः। सा० ध० १।२०

२. असिमषिकृषिवाणिज्यादिभिर्यहस्थानां हिंसासंभवेऽपि वा० स० ४०।४
सा० ध० २।२-१६
साधकत्वमेवं पक्षादिभिस्तिसृभिर्हिंसाद्युपचितं पापम् अपगतं भवति।
च० सो० ४१।३

३. धर्मार्थं देवतार्थमन्त्रसिद्धयथमोषधार्थमाहारार्थं स्वभोगाय च गृहमेधिनो हिंसा न कुर्वन्ति। हिंसासंभवे प्रायश्चित्त विधिना विशुद्धः सन् परिगह-परित्यागकरणे सति स्वगृहं धर्म च वेश्याय समर्प्य यावद् गृहं परित्यजति तावदस्य वर्या भवति। चा० सा० ४०।४; सा० ध० १।१९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना तथा श्रावक के बारह व्रतों एवं ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करना चर्या अथवा निष्ठा है। इसप्रकार की चर्या का आचरण करने वाला गृहस्थ नैष्ठिक श्रावक कहलाता है। सागार धर्मामृत में कहा है—देशसंयम का घात करने वाली कषायों के क्षयोपशम की क्रमशः वृद्धि के वश से श्रावक के दार्शनिक आदिक ग्यारह संयम स्थानों के वशीभूत और उत्तम लेश्या वाला व्यक्ति नैष्ठिक कहलाता है।[1]

साधक श्रावक

इसी तरह जिसमें सम्पूर्ण गुण विद्यमान हैं, जो शरीर का कम्पन, उच्छ्वास लेना, नेत्रों का खोलना आदि क्रियाओं का त्याग कर रहा है और जिसका चित्त लोक के ऊपर विराजमान सिद्धों में लगा हुआ है, ऐसे समाधिमरण करने वाले का शरीर परित्याग करना साधकपना कहलाता है। दूसरे शब्दों में, जीवन के अन्त में आहारादि का सर्वथा त्याग करना साधन कहलाता है। इस साधन को स्वीकार करते हुए ध्यान शुद्धिपूर्वक आत्मशोधन करने वाला गृहस्थ साधकश्रावक कहलाता है।[2] अथवा जो श्रावक आनन्दित होता हुआ जीवन के अन्त में मृत्यु समय शरीर, भोजन और मन, वचन, काय के व्यापार के त्याग से पवित्र ध्यान के द्वारा आत्मा की शुद्धि को साधन करता है, वह साधक कहा जाता है।[3]

अणुव्रत

हिंसादिक पापों की जीवनपर्यन्त निवृत्ति व्रत है। श्रावक इन व्रतों का एकदेश पालन करता है। अतः उसके द्वारा पाले जाने वाले व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। इन व्रतों को सर्वाङ्ग पालन न कर पाने का कारण कषाय माना गया है। क्रोधादि कषायों की तीव्रता के कारण साधक सम्पूर्ण चारित्र को धारण नहीं कर पाता। इसलिए उसके द्वारा

---

१. देशयमघ्नकषाय-क्षयोपशमतारतम्यवशतः स्याम्।
दर्शनिकाद्येकादश-दशावशो नैष्ठिकः सुलेश्यतरः ॥ सा० ध० ३।१

२. सकलगुणसंपूर्णस्य शरीरकम्पनोच्छ्वासनोन्मीलनविधिं परिहरमाणस्य लोकागमनसः शरीरपरित्यागः साधकत्वम्। वा० सा० ४१।०

३. सा० ध० १।१९-२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वीकृत व्रत अणुव्रत कहलाते हैं और साधक को अणुव्रती, देशविरत या देशसंयमी कहा जाता है।[1] अणुव्रत श्रावक के प्रमुख गुण हैं। जैसे पाँच महाव्रतों के अभाव में श्रामण्य निर्जीव होता है उसी तरह पाँच अणुव्रतों के अभाव में श्रावक धर्म निष्प्राण होता है। उवासगदसाओ में अणुव्रतों का विवरण स्थूल प्राणातिपातविरमण, स्थूलमृषावादविरमण, स्थूल अदत्तादानविरमण, स्वदारसन्तोष और इच्छापरिमाण के रूप में मिलता है।[2] कुन्दकुन्द ने कहा है—स्थूल त्रसकाय जीवों की हिंसा, स्थूल मृषा, स्थूल अदत्तग्रहण एवं परस्त्री का त्याग तथा बहुत आरम्भ परिग्रह का परिमाण अणुव्रत कहलाता है।[3]

श्रावक के व्रत अणु अर्थात् अल्प होते हैं। चारित्र मोहनीय कर्म के कारण वह हिंसादि पापों का सर्वाङ्ग त्याग नहीं कर सकता। वह त्रसजीवों की हिंसा का ही त्यागी होता है, इसलिए उसके अहिंसाणुव्रत होता है। स्नेह और मोहादिक के वश से गृहविनाश और ग्रामविनाश के कारण असत्य वचन से निवृत्त होता है, अतः उसके सत्याणु व्रत होता है। बिना दी हुई वस्तु को लेने से उसकी प्रीति घट जाती है, इसलिए अचौर्याणुव्रत होता है। स्वीकार की गई या बिना स्वीकार की हुई परस्त्री का संग करने से रति हट जाती है, इसलिए उसके परस्त्री त्याग अणुव्रत होता है। धन, धान्य, क्षेत्र आदि का स्वेच्छा से परिमाण कर लेता है, अतः उसके परिग्रह परिमाण अणुव्रत होता है।[4]

शीलव्रत

अहिंसा आदि व्रत हैं और इनके पालन करने के लिए क्रोधादिक का त्याग करना शील है। दूसरे शब्दों में, व्रतों की रक्षा को शील कहते हैं। जिस प्रकार नगर की परिखा द्वारा रक्षा की जाती है, उसी

---

१. देशसर्वतो-णुमहती। त० सू० ७।२

२. उवासग० १।२४-२८

३. थूलेतसकायवहे थूलेमोसे अदत्तथूले य।
परिहारो परमहिला परिग्गहारंभपरिमाणं॥
चा. पा. २४; वसु. श्रा. २०८; भ. आ०. २०८०; र. क. श्रा. ५३

४ स. सि., त. वा. ७।२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरह शील द्वारा व्रतों की रक्षा की जाती है।[१] शील सात हैं—१–दिग्विरति, २–देशविरति, ३–अनर्थदण्डविरति, ४–सामायिक, ५–प्रोषधोपवास, ६–उपभोगपरिभोगपरिमाण और ७–अतिथि-संविभाग।

शील को दो भागों में विभाजित किया गया है। प्रारम्भ के तीन गुणव्रत कहलाते हैं और शेष चार शिक्षाव्रत कहे गये हैं। दूसरे शब्दों में गुणव्रत और शिक्षाव्रत दोनों को शीलसप्तक कहा जाता है।[२]

गुणव्रत

गुणव्रत अहिंसादि अणुव्रतों की रक्षा तथा वृद्धि करते हैं अर्थात् ये गुणों के बढ़ाने के कारण हैं इसलिए इन व्रतों को गुणव्रत कहते हैं।[३] अणुव्रत श्रावक के मूलगुण रूप होते हैं। गुणव्रत उन मूल या मुख्य गुणों की रक्षा और वृद्धि करते हैं, अणुव्रतों का उपकार करते हैं, इसी कारण ये गुणव्रत कहे जाते हैं।[४] गुणव्रत तीन हैं—१–दिग्व्रत, २–देश-व्रत और ३–अनर्थदण्डव्रत। रत्नकरण्डक में दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, भोगोपभोग परिमाण को गुणव्रत कहा है।[५]

शिक्षाव्रत

शिक्षा का अर्थ अभ्यास है। जिस तरह विद्यार्थी पुनः पुनः विद्या का अभ्यास करता है, उसी प्रकार श्रावक या उपासक कुछ व्रतों का

---

१. व्रतपरिरक्षणार्थं शीलमिति दिग्विरत्यादीनीह शीलग्रहणेन गृह्यन्ते। स. सि. ७।२४

२. गुणव्रततत्रयं शिक्षाव्रतचतुष्टयं शीलसप्तकमित्युच्यते। दिग्विरतिः देशविरतिः अनर्थदण्डविरतिः सामायिकं, प्रोषधोपवासः उपभोगपरिभोगपरिमाणं अतिथिसंविभागश्चेति। चा० सा० १३।६

३. अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यायन्ति गुणव्रतान्यार्याः। र० क० श्रा० ६७

४. यद्गुणायोपकारायाणुव्रतानां व्रतानि तत्।
गुणव्रतानि ... ... ॥ सा० ध० ५।१

५. जं च दिसावेरमणं अणत्थदंडेहिं जं च वेरमणं।
देशावगासियं पि य गुणव्वयाइं भवे ताइं॥ भ० आ० २०७५; स० सि० ७।२१; वसु० श्रा० २१४।१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बार-बार अभ्यास करता है। इसी अभ्यास के कारण ये व्रत शिक्षाव्रत कहलाते हैं। अणुव्रत और गुणव्रत एक बार किसी नियत समय तक ग्रहण किये जाते हैं, अर्थात् अणुव्रतादि जीवन भर या किसी अन्य नियत काल तक को लिए जाते हैं, जबकि शिक्षाव्रत बार-बार ग्रहण किये जाते हैं; क्योंकि ये कुछ समय के लिए ही होते हैं। शिक्षाव्रत चार प्रकार के बताए गये हैं—इनके नाम एवं क्रम में आचार्यों में भिन्नता पायी जाती है। भगवती आराधना में लिखा है—भोगोपभोग-परिमाण, सामायिक, प्रोषधोपवास और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं। आगे कहा गया है कि इन व्रतों को पालने वाला गृहस्थ सहसा मरण आने पर भी, जीवित रहने की आशा के कारण जिसके बन्धुगण ने दीक्षा लेने की अनुमति नहीं दी है, ऐसे प्रसंग में वह घर में सल्लेखना धारण करता है।[1] अर्धमागधी आगम परम्परा में सामायिक, देशावकाशिक प्रोषधोपवास और अतिथिसंविभाग को शिक्षाव्रत माना गया है।[2] कुन्दकुन्द ने चारित्तपाहुड में सामायिक, प्रोषध, अतिथि पूजा और सल्लेखना को शिक्षाव्रतों में गिनाया है।[3] रत्नकरण्डक में देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत माने गये हैं।[4] उपासकदशांग में गुणव्रतादि सातों को शिक्षा-व्रत कहा गया है।[5]

दिग्व्रत

दिग्व्रत का अर्थ है—दिशा सम्बन्धी नियम। यह प्रथम गुणव्रत है। अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार व्यवसाय आदि प्रवृत्तियों के निमित्त दिशाओं में गमनागमन विषयक मर्यादा निश्चित करना दिग्व्रत परि-

---

१. भ० आ० २०७६-८२; स० सि० ७।२१

२. जैनाचार पृ० ११३

३. चा० पा०, गा० २६

४. रत्नकरण्डक श्रावकाचार ९१

५. तएणं से आणंदे गाहावई समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्व-इयं सत्तसिक्खावइयं—दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जति। उवासग० १।४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माणव्रत है। इससे परिग्रहपरिमाण नामक पाँचवें अणुव्रत की रक्षा होती है; क्योंकि दिशाओं की मर्यादा निश्चित हो जाने पर लोभ-तृष्णा पर स्वतः नियन्त्रण होता है, जिससे इच्छा परिमाण में दृढ़ता आती है। समन्तभद्र ने लिखा है—मरणपर्यन्त सूक्ष्म पापों की विनिवृत्ति के लिए दशों दिशाओं का परिमाण करके "इससे बाहर मैं नहीं जाऊँगा" इस प्रकार संकल्प करना दिग्व्रत है।[1]

दिग्व्रत के परिपूर्ण पालन के लिए दिग्विरति के पाँच अतिचार बताए गये हैं—उर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान।[2] प्रमादवश या अज्ञान के कारण ऊँची, नीची तथा विदिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन करना, क्षेत्र की मर्यादा बढ़ा लेना और की हुई प्रतिज्ञाओं को भूल जाना दिग्व्रत के अतिचार हैं। अतः साधक को इनके प्रति सावधान रहना आवश्यक है। धीरे-धीरे दिग्व्रत में की गयी मर्यादा के बाहर त्रस-स्थावर हिंसा का त्याग हो जाने से श्रावक का दिग्व्रत नामक अणुव्रत उतने अंश में महाव्रत होता है और मर्यादा के बाहर परिणमन होने से लोभ का त्याग होता है।[3]

देशव्रत या देशावकाशिकव्रत

देशव्रत दूसरा गुणव्रत है। ग्रामादिक की निश्चित मर्यादा रूप प्रदेश देश कहलाता है। उससे बाहर जाने का त्याग कर देना देशव्रत है। इसे देशावकाशिक व्रत भी कहते हैं।[4] यह व्रत शक्त्यनुसार नियत-काल के लिए होता है। समन्तभद्र ने रत्नकरण्डक में लिखा है कि

---

१. दिग्वलयं परिगणितं कृत्वाऽतोऽहं बहिर्न यास्यामि।
इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै॥ र० क० श्रा० ६८; स० सि० ७।२१; वसु० श्रा० २१४; रा० वा० ७।२१।१६; सा० ध० ५।२ का० अ० ३४२

२. ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि। त० सू० ७।३०; र० क० श्रा० ७३

३. र० क० श्रा० ७०-७१; स० सि० ७।२१

४. ग्रामादीनामवधृतपरिणामः प्रदेशो देशः। ततोबहिर्निवृत्तिर्देशविरतिव्रतम्॥ स० सि० ७।२१; त० वा० ७।२१।३; पु० सि० उ० १३९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिग्व्रत में प्रमाण किये हुए विशाल देश में काल के विभाग से प्रतिदिन त्याग करना देशावकाशिक व्रत है। देशावकाशिक व्रत में क्षेत्र की मर्यादा अमुक घर, गली अथवा कटक-छावनी, ग्राम-खेत, नदी, वन या योजन तक की जाती है। यह मर्यादा एक वर्ष, छह माह, चार माह, दो माह, एक पक्ष और नक्षत्र तक की भी हो सकती है।[1] इस प्रकार देशव्रती श्रावक लोभ और काम को घटाने के लिए तथा पापनिवृत्ति के लिए वर्ष आदि की अथवा प्रतिदिन की मर्यादा करता है। पहले दिग्व्रत में किये हुए दिशाओं के प्रमाण को तथा भोगोपभोग परिमाण-व्रत में किए गये इन्द्रिय के विषयों के परिमाण को और भी कम करता है।[2] यही देशव्रत अपनी मर्यादा के बाहर स्थूल-सूक्ष्म रूप पापों का त्याग होने पर महाव्रत के सदृश हो जाता है।[3]

आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये पाँच देशव्रत के अतिचार या दोष हैं। देशव्रत के सम्यक् पालन के लिए इन दोषों का जानना भी आवश्यक है जिससे देशव्रत का निर्दोष और निरतिचार पालन किया जा सके।[4]

---

१. देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य ।
प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥
गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदावयोजनानां च ।
देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः ।
संवत्सरमृतुरयनं मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च ।
देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ॥
र० क० श्रा० ९२-९४; सा० ध० ४।२५

२. पुव्व-पमाण-कदाणं सव्वदिसीणं पुणो वि संवरणं ।
इंदियविसयाण तहापुणो वि जो कुणदि संवरणं ॥
वासादिकयपमाणं दिणे-दिणे लोह-काम-समणट्ठं ॥
का० अ० ३६७-३६८; वसु० श्रा० २१५, गुण० श्रा० १४१

३. पूर्ववद्बहिर्महाव्रतत्वं व्यवस्थाप्यम् । सा० सि० ७।२१; त० वा० ७।२१।२०; र० क० श्रा० ९५

४. आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः । त० सू० ७।३१; र० क० श्रा० ९५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनर्थदण्डव्रत

अनर्थदण्ड का अर्थ है—निरर्थक असत् प्रवृत्तियाँ जिससे अपना कुछ प्रयोजन नहीं सधता, उसे अनर्थ कहते हैं। जो प्रवृत्ति उपकारक न होकर केवल पाप का कारण बनती है वह अनर्थदण्ड है। इस प्रकार के दोषों से निवृत्ति अनर्थदण्डव्रत कहलाता है।[1] गृहस्थ श्रावक अपने तथा अपने कुटुम्बीजनों के जीवन निर्वाह या मन, वचन, काय सम्बन्धी प्रयोजन के बिना प्राणियों को पीड़ा नहीं देता और अनर्थक पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत्त होता है, वह उसका अनर्थदण्डव्रत कहलाता है।[2] यह गुणव्रत प्रधान रूप से अहिंसाणुव्रत एवं अपरिग्रह का पोषक होता है। अनर्थ दण्डव्रती श्रावक निरर्थक हिंसा का त्यागी होता है और निरर्थक वस्तुओं का संग्रह नहीं करता है। अनर्थदण्ड पाँच प्रकार का होता है—अपध्यान, पापोपदेश, हिंसादान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या।[3] हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से सम्बन्धित चिन्तन अपध्यान कहलाता है। अपध्यान का अर्थ है—कुध्यान, अशुभध्यान। जो उपदेश सुनने से बुरे कर्मों में प्रवृत्ति हो, इस तरह का उपदेश पापोपदेश कहलाता है। बिना प्रयोजन हिंसा, खेती, व्यापारविषयक उपदेश पापोपदेश अनर्थदण्ड हैं और इससे विरत रहना अनर्थदण्डव्रत कहलाता है। हिंसा के साधन फरसा, तलवार, खनित्र, अग्नि, सांकल आदि का दूसरों को नहीं देना हिंसादान अनर्थदण्ड है। अज्ञानवश या बिना प्रयोजन वृक्षादि काटना, भूमि कूटना, खोदना, पानी का गिराना आदि

---

१. असत्युपकारे पापादानहेतुरनर्थदण्डः। स० सि०, ७।२१; त० वा० ७।२१।४

२. अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।
विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः॥
र० क० श्रा० ७४; का० अ० ३४३; सा० ध० ५।६

३. तयाणंतरं च णं चउव्विहं अणट्ठादंडं पच्चक्खाइ, तं जहा··· । १. अवज्झाणाचरितं, २. पमायाचरितं, ३ हिंसप्पयाणं, ४. पावकम्मोवदेसे। —उवासग, १।३;
पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पञ्च।
प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः॥ र० क० श्रा० ७५; स० सि० ७।२१, रा० वा० ७।२१।२१।५४९।५, वा० सा० १६।४, पु० सि० ३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्य प्रमादाचरित अनर्थदण्ड हैं और इनसे निवृत्त रहना प्रमादाचरित अनर्थदण्ड विरमणव्रत कहलाता है। हिंसादिक तथा रागादिक को बढ़ाने वाली दुष्ट कथाओं का नहीं सुनना और न दूसरों को सुनाना दुःश्रुति अनर्थदण्ड विरमणव्रत कहा जाता है।[1]

अनर्थदण्डव्रत के निम्न पांच अतिचार बताए गये हैं—कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और भोगपरिभोगानर्थक्य। हास्ययुक्त, अशिष्ट और विकारवर्धक वचन बोलना या सुनना कन्दर्प कहलाता है। शरीर द्वारा विकारवर्धक चेष्टा सहित वचन प्रयोग कौत्कुच्य है। असम्बद्ध और अनावश्यक बोलना मौखर्य कहलाता है। प्रयोजन के बिना कोई-कोई क्रिया करते रहना, या उसका चिन्तन करना, असमीक्ष्याधिकरण कहा जाता है। इसे संयुक्ताधिकरण भी कहा गया है। आवश्यकता न होने पर भी उपभोग परिभोग की सामग्री को एकत्रित करना और उसका अधिक संग्रह करके रखना भोगपरिभोग अनर्थक्य है, ये पाँच इस व्रत पालन में बाधक दोष हैं, इसलिए श्रावक को इनका जानना आवश्यक है, जिससे व्रतों का निर्दोष पालन हो सके। इसप्रकार अनर्थदण्डविरमणव्रत के द्वारा साधक मुख्यतः अहिंसाणुव्रत का पोषण करता है। दूसरे शब्दों में, अनर्थदण्ड-विरमणव्रत का उद्देश्य अहिंसा का सूक्ष्म पालन कराना है।[2]

सामायिकव्रत

सम् का अर्थ समता या समभाव है और आय का अर्थ लाभ या प्राप्ति है। इस तरह समाय का अर्थ होता है—समभाव का लाभ या समता की प्राप्ति। इस समाय विषयक क्रिया या भाव सामायिक कहलाता है। सामायिक आत्मा का भाव है अथवा शरीर की एक क्रिया विशेष है, जिससे मनुष्य को समभाव की प्राप्ति होती है। सामायिक का आराधक त्रस और स्थावर समस्त जीवों के प्रति समभाव रखता है।[3] श्रमण भी सामायिक का आराधक होता है। श्रमण और श्रावक

१. र० क० श्रा० ७६-८०; स० सि० ७।२१; पु० सि० उ० १४२-४५

२. कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि।
त० सू० ७।३२, उवासग० १।३९, र० क० श्रा० ८१

३. सर्वसावद्य निवृत्तिलक्षणसामायिकम्। स० सि० ७।१,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में अन्तर यह है कि श्रावक उस सामायिक को एक नियतकाल से नियतकाल तक धारणकर अभ्यास करता है इसलिए श्रावक की उस सामायिक को व्रत या प्रतिमा कहते हैं, परन्तु श्रमण का जीवन ही समतामय बन जाता है, इसलिए उसकी सार्वकालिक समता को सामायिक चारित्र कहते हैं। रत्नकरण्डक में लिखा है— मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना पूर्वक की हुई मर्यादा के अन्दर या बाहर भी किसी नियतसमयपर्यन्त पाँचों पापों का त्याग करना सामायिक व्रत कहलाता है।[1] साधक धीरे-धीरे समभाव का अभ्यास करते-करते अपने पूर्ण जीवन को समतामय बना लेता है और सामायिक करता हुआ श्रावक भी संयमी श्रमण के समान हो जाता है।[2] इस तरह सामायिक महाव्रतों की ओर अग्रसर होने का कारण बनता है।

सामायिकव्रत के काययोगदुष्प्रणिधान, वचनयोगदुष्प्रणिधान, मनोयोग दुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान, पाँच अतिचार बताए गये हैं। अतः सामायिक व्रत के परिपूर्ण पालनार्थ इन दोषों से बचना आवश्यक है। शरीर से सावद्यपापयुक्त क्रिया करना काय दुष्प्रणिधान कहलाता है। वाणी से सावद्य वचन बोलना वाग्दुष्प्रणिधान है। मन से सावद्य भावों का चिन्तन मनोदुष्प्रणिधान है। यथासमय सामायिक न करना, समय से पूर्व ही सामायिक से उठना, अनादर या अनवस्थितकरण कहा गया है और सामायिक विषयक विस्मरण स्मृत्यनुपस्थान या स्मृत्यकरण कहलाता है, जैसे, सामायिक करनी है या नहीं। सामायिक की है या नहीं, सामायिक पूर्ण हुआ है या नहीं इत्यादि।[3]

प्रोषधोपवासव्रत

प्रोषध का अर्थ पर्व है। पर्व के दिन जो उपवास किया जाता है, उसे प्रोषधोपवास कहते हैं अथवा विशेष नियमपूर्वक उपवास करना

---

१. आसमयमुक्तिमुक्तं पञ्चाघानामशेष भावेन।
सर्वत्र च सामायिका: सामायिकं नाम शंसन्ति ॥ र० क० श्रा० ९७

२. सामाइह्मि दु कदे समणो इर सावओ हवदि जह्मा।
मू० आ० ५३१, र० क० श्रा० १०२, स० सि० ७।२१

३. त० सू०, ७।३३, उवासग० १।४०, र० क० श्रा० १०५, साध० ५।३३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रोषधोपवास है।[1] समन्तभद्र ने कहा है—चार प्रकार के आहार का त्याग उपवास है। एक बार भोजन करना प्रोषध है। इसप्रकार प्रोषध-सहित गृहारंभादि को छोड़कर उपवास सहित आरम्भ न करना प्रोषधोपवास है।[2] चतुर्दशी, अष्टमी आदि पर्व हैं। इन दिनों शृंगार आदि शारीरिक सत्कार बिना सदा व्रत-विधान की इच्छा से चार प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है। वही प्रोषध उपवास कहलाता है। इस व्रत में उपवास का प्रयोजन आत्मतत्त्व का पोषण होता है।[3] प्रोषधोपवास के पाँच अतिचार बताए गये हैं—अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित भूमि में उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित वस्तु का आदान, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तर का उपक्रमण, अनादर और स्मृति का अनुपस्थान।[4]

अतिथिसंविभागव्रत

संयम का विनाश न हो, इस विधि से जो आता है, वह अतिथि है अथवा जिसके आने की कोई तिथि निश्चित न हो, उसे अतिथि कहते हैं।[5] जिस श्रावक ने तिथि, पर्व, उत्सव आदि सबका त्याग कर दिया है। अमुकपर्व या तिथि में भोजन नहीं करता, ऐसे नियम को त्याग दिया है, उसे अतिथि कहते हैं। शेष अभ्यागत कहलाते हैं।[6] अतिथि के लिए विभाग करना अतिथि संविभाग है। वह चार प्रकार है—भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय अर्थात् रहने का स्थान।[7] इससे करुणावृत्ति का पोषण होता है। अतिथि-संविभागव्रत के निम्नलिखित पाँच अतिचार कहे गये हैं—

---

१. प्रोषधशब्दः पर्व पर्यायवाची। ···प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः। स० सि० ७।२१, त० वा० ७।२१।८

२. र० क० श्रा० १०९, का० अ० ३५७-५९

३. र० क० श्रा० १६।१८, वसु० श्रा० २९३, स० सि० ७।२१

४. उवासग० १।४२, त० सू० ७।३४, र० क० श्रा० ११०

५. स० सि० ७।२१

६. सा० ध० ५।४२ में उद्धृत श्लोक

७. स० सि० ७।२१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. सचेतन कमल पत्रादि में आहार रखना, २. सचित्त पात्र से ढकना, ३. स्वयं न देकर दूसरे को दान देने को कहकर अन्यत्र चले जाना, ४. दान देते समय आप्तभाव नहीं रखना, ५. श्रमणादि के भिक्षा काल में द्वारापेक्षण करना आदि।[1]

भोगोपभोगपरिमाणव्रत

पंचेन्द्रिय सम्बन्धी जो विषय एक बार भोग करने के बाद पुनः उपभोग में न आयें, वे भोग कहलाते हैं। जैसे—भोजन, पान, गन्ध आदि। एक बार भोग होने के बाद पुनः जिनका उपभोग किया जा सके वे उपभोग कहे जाते हैं। जैसे—वस्त्र, अलंकार, शयन, आसन, घर, वाहन आदि। उपभोग को परिभोग भी कहा गया है। भोग और उपभोग विषयक सामग्री की मर्यादा भोगोपभोग परिमाणव्रत कहलाता है।[2] रत्नकरण्डक में कहा गया है कि राग, रति आदि भावों को कम करने के लिए परिग्रह परिमाणव्रत में की हुई मर्यादा में भी प्रयोजनभूत इन्द्रिय विषयों का प्रतिदिन परिमाण कर लेना भोगोपभोग परिमाणव्रत है। यह परिमाण जीवनपर्यन्त अथवा नियतकाल के लिए किया जाता है। इसी कारण भोगोपभोग परिमाणव्रत यम और नियम के रूप में दो प्रकार का होता है—जिसमें काल की मर्यादा होती है वह नियम कहलाता है और जीवन भर के लिए किये जाने वाला परिमाण यम कहा गया है। इस प्रकार इस व्रत से भी अहिंसा व्रत का उत्कर्ष होता है।[3] भोगोपभोग के अतिचार रूप में सचित्ताहार, सचित्तसम्बन्धाहार, सम्मिश्राहार, अभक्ष्याहार और दुःपक्वाहार का विवेचन किया गया है।[4]

प्रतिमा

प्रतिमा का अर्थ है—प्रतिज्ञा, नियम, व्रत, तप अथवा अभिग्रह-

---

१. त० सू० ७।३६, उवासग० १।४३, र० क० श्रा० १२१

२. र० क० श्रा० ८३, स० सि० ७।२१, २।२४

३. अक्षार्थानां परिसंख्यानभोगोपभोगपरिमाणं।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये॥
र० क० श्रा० ८२, ८४, ८७, स० सि० ७।२१

४. त० सू० ७।३५, सा० ध० ५।२०, चा० सा० २५।१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष। श्रावक के लिए ग्यारह प्रतिमाओं का विधान किया गया है। ये वैराग्य की प्रकर्षता से श्रावक की ग्यारह श्रेणियाँ हैं। श्रावक अपनी शक्ति को न छिपाता हुआ इन प्रतिमाओं की अनवरत साधना करके उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त होता है। अन्तिम प्रतिमा में श्रावक का रूप साधु से किंचित् न्यून रहता है। इसलिए अन्तिम प्रतिमा को श्रमणभूत प्रतिमा नाम से भी अभिहित किया गया है।[1] ये ग्यारह प्रतिमाएं इस प्रकार हैं—१. दार्शनिक, २. व्रतिक, ३. सामयिक, ४. प्रोषधोपवासी, ५. सचित्तविरत, ६. रात्रिभुक्तविरत, ७. ब्रह्मचारी, ८. आरम्भविरत, ९. परिग्रहविरत, १०. अनुमतिविरत और ११. उद्दिष्टविरत।[2] ग्यारहवीं उद्दिष्टविरत प्रतिमा के दो भेद हैं—प्रथम एक वस्त्र रखने वाला। इसे क्षुल्लक कहते हैं। दूसरा कोपीन अर्थात् लंगोटी मात्र के परिग्रह वाला, इसे ऐलक कहा जाता है।[3]

प्रतिमाएँ तपःसाधना की क्रमशः वृद्धि को प्राप्त अवस्थाएँ हैं। दूसरे शब्दों में श्रावक के ये ग्यारह स्थान हैं। प्रतिमा धारण करने वाले श्रावक के व्रत-नियमादि गुण सम्यग्दर्शनादि क्रमशः बढ़ते रहते हैं। अतः उत्तर-उत्तर प्रतिमाओं में पूर्व-पूर्व प्रतिमाओं के गुण स्वतः समाविष्ट हो जाते हैं।[4] ग्यारहवीं प्रतिमा के बाद श्रावक स्वशक्ति अनुसार मुनिधर्म की दीक्षा लेता है अथवा सल्लेखना या समाधिमरण का वरण करता है। इसे मारणांतिक सल्लेखना कहते हैं जो प्रीतिपूर्वक, शान्तिपूर्वक सेवन की जाती है।[5]

---

१. द्रष्टव्य, अध्याय ४, परि०। भिक्षु प्रतिमा।

२. दंसण-वय-सामाइय पोसह सच्चित्त राइभत्ते य।
बंभारंभपरिग्गह अणुमण उद्दि देसविरदे॥ बा० अणु० ६९
उवासग० १।६१-६४, चा० पा० २२, वसु० श्रा० ४, सा० ध० ३।२-३

३. एसारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविओ।
वत्थेक्कधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ॥ वसु० श्रा० ३०१,
गुण० श्रा० १८४, सा० ध० ७।३८-३९

४. चा० सा० ३।४, सा० ध० ३।५

५. मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता। त० सू० ७।२२, सा० ध० ७।५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राकृत-जैनागम परम्परा में गृहस्थ श्रावक के लिए एक विशिष्ट प्रकार की आचार संहिता का प्रतिपादन किया गया है। इस आचार संहिता के प्रतिपादन में बहुसंख्या में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है उन पारिभाषिक शब्दों पर अध्ययन की दिशा में यह विनम्र प्रथम प्रयास है, अतः उसे अन्तिम नहीं कहा जा सकता।

उपलब्ध गृहस्थाचार विषयक साहित्य को देखने से यह भी पता चलता है कि गृहस्थ श्रावक की आचार संहिता में भी देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार जैन मनीषियों द्वारा अनेक परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं संशोधन किये गये हैं, उनकी पृथक्-पृथक् व्याख्यायें की गई हैं, आज के सामाजिक, आर्थिक एवं भौगोलिक जीवन तथा स्थिति के परिप्रेक्ष्य में उन पर पुनः विचार करने की आवश्यकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में प्रतिपादित सांस्कृतिक जीवन

—डा० उमेशचन्द्र श्रीवास्तव

हेमचन्द्र ने अधीतव्य ग्रन्थ में सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्धित भोजन-पान, वस्त्राभूषण, मनोविनोद, सामाजिक तथा धार्मिक उत्सव आदि का विस्तृत उल्लेख किया है। इसका विवरण निम्नलिखित है—

भोजन-पान—हेमचन्द्र विरचित त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित अहिंसा प्रधान जैन संस्कृति की पृष्ठभूमि पर रचित है। अतएव ग्रन्थकार ने भोजन-पान की शुद्धता एवं सात्विकता पर विशेष बल दिया है। यद्यपि ग्रन्थकार ने तत्कालीन समाज में प्रचलित विविध प्रकार के भोजन-पान का उल्लेख किया है तथापि मद्यपान, मांस आदि भोजन की बुराइयों से अवगत भी कराया है। ग्रन्थ में उपलब्ध भोजन-पान की सामग्री को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचित किया गया है :—

भोजन के प्रकार—आचार्य हेमचन्द्र ने चार प्रकार के भोजन का निर्देश दिया है[1]—अशन (भात, दाल, रोटी आदि), पान (दूध आदि पेय पदार्थ), खाद्य (लड्डू आदि खाने योग्य पदार्थ), एवं स्वाद्य (पान, इलायची, सुपारी आदि)। जैन पुराणों में भी इनका उल्लेख है।[2]

अन्नाहार—ग्रन्थकार ने विविध प्रकार के भोज्यान्नों के अन्तर्गत

प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति विभाग, का० हि० वि० वि०; वाराणसी

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, १-१-४५६, प्र० जैन आत्मानन्द सभा भावनगर (भाग १-६) १९०५-१९०९

२. महापुराण—जिनसेन सं० पन्नालाल जैन, अशनं पानकं खाद्यं स्वाद्यं चान्नं चतुर्विधम् ९-५६ दो-भाग भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रथम संस्करण १९५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यव[1], तिल[2], चणक[3], धान्य[4], माष[5], मुद्ग[6] (मूँग), कलम[7] आदि का उल्लेख किया है। कलम एक विशेष प्रकार का चावल था जो पतला, सुगन्धित एवं स्वादिष्ट होता था। इससे ओदन बनाने का उल्लेख है।[8]

स्वास्थ्यवर्धक आहार—हेमचन्द्र ने शरीर को स्वस्थ रखने तथा बल, वीर्य एवं सात्विक वृत्तियों को बढ़ाने वाले भोजनों में दुग्ध एवं उससे बने पदार्थ[9] (पायसान्न), दधिसार[10], घृत[11], दही[12], शहद[13] आदि का उल्लेख किया है। इन आहारों से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

शाक-सब्जी—इसके अन्तर्गत हेमचन्द्र ने शूकर[14], शाकपणिका,[15] आलू[16], मटर[17], कद्दू[18], खीरा[19], स्वस्तिक[20] आदि का उल्लेख किया है।

---

१. त्रिषष्टि. १।२।६९२
२. वही, ३।७।१५८
३. वही, ३।१।२९
४. वही, १०।१३।२७०
५. वही, ३।१।४१
६. वही, ३।१।४१
७. वही, १०।८।२५५
८. वही, १०।१३।१०५
९. वही, २।३।३०४
१०. वही, ८।५।१४३
११. वही, ३।१।४२
१२. वही, १०।३।१८५
१३. वही, ८।९।३३८-३३९
१४. वही, ८।९।३४४
१५. वही, १।१।५६५
१६. वही, १।४।८३७
१७. वही, १०।८।२५५
१८. वही, १०।८।२५६
१९. वही, १०।८।२५७
२०. वही, १०।८। २५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फल—फलों के अन्तर्गत हेमचन्द्र ने आम, सेव, सन्तरा, श्रीफल, क्रमुक, केला, दाडिम, फूट, इक्षु आदि का उल्लेख किया है।[1]

भोज्य पदार्थ—भोज्य पदार्थों के अन्तर्गत हेमचन्द्र ने अनेक वस्तुओं का निर्देश किया है जिनमें मिच्छिल, तीयन (कढ़ी), मर्यराल, बटक, कुल्माष, काष्ठपेया, मिष्ठान्न, मण्डक, मण्डिका, मोदिक, मार्जित, क्षेरेयी (खीर) पलल, घृतपुर आदि की गणना हुई है। ये भोज्य अनेक पदार्थों के मिश्रण से बनाये जाते थे।[2]

मद्यपान—आचार्य हेमचन्द्र ने मद्य के अनेक नामों का उल्लेख किया है जैसे—मदिरा, कादम्बरी, वारुणी, हाला, मद्य, सुरा, रस आदि।[3] हेमचन्द्रकालीन समाज में सुरापान के अनेकशः उल्लेख मिलते हैं।[4] पुरुष के साथ-साथ स्त्रियों के भी मद्यपान का उल्लेख मिलता है।[5] सुरा को देवभोग की संज्ञा दी गयी है।[6] संभवतः तत्कालीन शैव मतावलम्बियों द्वारा इसका प्रयोग पूजा के निमित्त किया जाता रहा होगा। हेमचन्द्र ने इसे विष की संज्ञा दी है जिससे बुद्धि नष्ट हो जाती है।[7] इसलिए हेमचन्द्र ने मद्यपान के निषेध के लिए चौलुक्य नरेन्द्र कुमारपाल से राजाज्ञा निकलवायी।

मांसाहार—हेमचन्द्र ने मांसाहार में मांस, मछली आदि का निर्देश किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में प्रायः बकरी, हस्ति आदि का मांस खाया जाता था।[8] यह आखेट द्वारा भी

---

१. त्रिषष्टि २।१।११, ६।२।५०, २।६।४८०, ३।४।२१, २।६।२६०, १०।१२।३०, ६।६।२०६, ६।२।५२, २।६।२५४, ८।३।८०६

२. वही, ३।१।४४, ३।१।४१, १०।४।३५८, १०।८।२५५, ३।१।४३, १०।३।४००, १०।१३।१६७, १०।८।२५४

३. वही, ८।९।३०७, ८ ९।३०८, ८।९।३१२-३१४, ३१०, ३१३

४. वही, ८।५।८७

५. वही, ८।५।७२

६. वही, ८ २।४१९, ८।९।२०२

७. वही, ८।९।३२८-३२९

८. वही, ७।२।४१९, १०।७।३३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त किया जाता था।[1] इस समय मछलियों को भी खाने की प्रथा थी।[2] विवाहादि अवसरों पर भी आमिष भोजन का व्यवहार किया जाता आ।[3] तीर्थङ्कर नेमिनाथ के विवाह में नभचर, जलचर, स्थलचर आदि को पकड़कर इकट्ठा किया गया था।[4] हेमचन्द्र ने तापसी द्वारा माँस खाकर जीवनयापन करने का उल्लेख किया है।[5] यद्यपि समाज में मांसाहार की प्रथा प्रचलित थी तथापि हेमचन्द्र ने मांस खाने को निषिद्ध किया है[6] और कहा है कि माँस खाने वाला निष्ठुर और नरकगामी होता है।[7]

आलोच्य ग्रन्थ में अनेक भोज्य पदार्थ श्रावकों के लिए विहित बताए गए हैं। इनमें स्वीकृत भोजन को 'प्रतिलाभ्य'[8] तथा अस्वीकृत भोजन को 'प्रत्याख्यान'[9] की संज्ञा दी गयी है। विहित भोज्य पदार्थों में ४६ प्रकार के दोषों से मुक्त भोजन को ग्राह्य बताया गया है और नवनीत भक्षण, मधुसेवन, उदुम्बर सेवन, मद्यपान, माँसाहार तथा रात्रि भोजन को त्याज्य बताकर जैन परंपरा का निर्वाह किया गया है।[10]

वस्त्र—प्रस्तुत ग्रन्थ में वस्त्र के लिए वास, वसन, परिधान, चेल, अंशुक, पट आदि शब्दों का व्यवहार किया गया है।[11]

---

१. त्रिषष्टि, ७।२।१७६
२. वही, २।४।३४
३. वही, ७।४।१७५।१९३
४. वही, ८।९।१७२-१७३
५. वही, १०।७।३३०
६. वही, ८।९।३०५-३०६
७. वही, ८।९।३२३-३३३
८. वही, ८।३।२२९
९. वही, ९-३-२२५
१०. वही, ८।९।३३४, ३३६, ३३८, ३४१, ३५१, ३९-४०
११. वही, २।६।६९६, ६४३, ९, २।४।३६५, ४।४।९, ३।२।११७, २।६। ४५९, ४।४।३९, ७।२।२७, ८।३।९५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्त्रों के प्रकार—ग्रन्थ में सूती, ऊनी तथा रेशमी तीनों प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख प्राप्य है। इनका विवरण निम्नवत् है—

देवदूष्य[1]—ग्रन्थ में तीर्थंकरों के पंच कल्याणकों के अवसरों पर इन्द्रादि देवताओं द्वारा लाये गये देवदूष्य वस्त्र का उल्लेख मिलता है। भगवती सूत्र में देवदूष्य को एक दैवी वस्त्र बताया गया है।[2] वी० एस० अग्रवाल के अनुसार यह एक कीमती वस्त्र था।[3]

दिव्य वस्त्र[4]—ग्रन्थ में कई स्थलों पर दिव्य वस्त्र का उल्लेख किया गया है। यह कोई उत्कृष्ट वस्त्र रहा होगा।

दुकूल[5]—ग्रन्थ में कई तीर्थंकरों के जन्म कल्याणकोत्सव के समय दुकूल वस्त्र पहनने का उल्लेख है। निशीथचूर्णी में वर्णित है कि दुकूल का निर्माण दुकूल नामक वृक्ष की छाल को कूटकर उसके रेशे से करते थे।[6]

अंशुक[7]—निशीथचूर्णी के अनुसार अंशुक में तारबीन का काम होता था। अलंकारों में जरदोजी का काम एवं उनमें स्वर्ण के तार से चित्र-विचित्र नक्काशियाँ निर्मित की जाती थीं।[8] बृहत्कल्पभाष्य की टीका में यह कोमल एवं चमकीला रेशमी वस्त्र वर्णित किया गया है।[9] सोमदेव ने भी इसका उल्लेख किया है।[10]

---

१. त्रिषष्टि १।३।६४, २।४।३६५

२. भगवती सूत्र, १५।१।५४१

३. अग्रवाल, वी० एस०—हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, विहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना १९५३ पृ० ७५

४. त्रिषष्टि, २।४।।१००

५. वही, ४।१।५५९

६. निशीथचूर्णी खण्ड १ सम्मतिज्ञानपीठ आगरा, १९५७-६०, पृ० १०-१२

७. त्रिषष्टि, ८।३।१७३, २।१।२०२

८. निशीथचूर्णी ४, पूर्वोक्त पृ० १६७

९. बृहत्कल्पभाष्य, ४।३६-६१

१०. यशस्तिलक—उत्तर खण्ड, संपादक शिवदत्त, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९०१, १९०३, पृ० १३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

औमक[1]—ग्रन्थ में औमक वस्त्रों का भी उल्लेख है। एक प्रसंग में आनन्द ने दो औमक वस्त्रों को छोड़कर बाकी सभी वस्त्र दान में दे दिया था।[2] सुनन्दा व सुमंगला ने भी विवाह के अवसर पर औमक वस्त्र धारण किया था।[3]

क्षौम[4]—यह अत्यन्त महीन एवं सुन्दर वस्त्र था। यह अलसी की छाल तन्तु से निर्मित होता था।[5] वी० एस० अग्रवाल के अनुसार यह असम एवं बंगाल में उत्पन्न होने वाली एक प्रकार की घास से निर्मित किया जाता था।[6] काशी और पुण्ड्र देश का क्षौम प्रसिद्ध था।[7]

उत्तरीय[8] - इसका प्रयोग दुपट्टे के अर्थ में किया गया है। इसे कन्धे पर धारण करते थे। अमरकोश में उत्तरीय को ओढ़ने वाला वस्त्र कहा गया है। यह पुरुष और स्त्री दोनों धारण करते थे।[9]

अन्तरीय[10]—अधोभाग में पहने जाने वाले वस्त्रों में अन्तरीय, उपसंव्यान, परिधान और अधोशुक का उल्लेख किया गया है।[11] इन वस्त्रों को भी स्त्री-पुरुष दोनों के द्वारा पहना जाता था।[12] अमरकोश में धोती के पर्यायार्थक अन्तरीय, उपसंव्यान, परिधान और अधोशुक का उल्लेख है।[13]

---

१. त्रिषष्टि, १०।३।२५२
२. वही, १०।८।२५२
३. त्रिषष्टि १।२।८०५
४. वही ८।२।३५५
५. मोतीचन्द्र : प्राचीन भारतीय वेषभूषा, भारती भण्डार प्रयाग सं० २०१२ पृ० ५
६ हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पूर्वोक्त पृ० ७६
७. मोतीचन्द्र : वही, पृ० ९
८. त्रिषष्टि २।३।२१७
९. अमरकोष २।६।११८
१०. त्रिषष्टि १।३।३६३
११. वही, २।५।८८, २।६।९, ७।६।३९०
१२. वही, ६।७।२२, ८।३।४८५
१३. अमरकोष २।६।११७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कौपीन[1]—यह एक प्रकार का छोटा वस्त्र था जिसका उपयोग साधु पहनने के काम में करते थे। ग्रन्थ में नारद मुनि को कौपीन वस्त्र में वर्णित किया गया है।

तौलिया[2]—ग्रन्थ में तौलिया का भी उल्लेख स्नानोपरांत शरीर मार्जित करने के प्रसंग में आया है।

कम्बल[3]—ग्रन्थ में विक्रयार्थ लायी गयी वस्तुओं में कम्बल का भी उल्लेख हुआ है। इसका प्राचीनतम उल्लेख अथर्ववेद में उपलब्ध है। ह्वेनसांग के अनुसार यह भेड़-बकरी के ऊन से निर्मित होता था।

अन्य प्रकार के वस्त्र[4]—हेमचन्द्र ने अन्य कई प्रकार के वस्त्रों का भी उल्लेख किया है। जैसे—नेपथ्यवस्त्र, मुखवस्त्र, विचित्र वस्त्र, पट्ट अथवा पटबन्ध, साड़ी, पटवास आदि।

आभूषण—वस्त्र निर्माण कला के आविष्कार के साथ-साथ आभूषण का भी प्रयोग भारतीय सभ्यता के विकास के साथ आरम्भ हुआ।[5] जैन पुराणों में शारीरिक सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए आभूषण की उपादेयता का प्रतिपादन हुआ है।[6] हेमचन्द्र ने भी विविध आभूषणों का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है, जिसका उल्लेख निम्नवत् है।

आभूषण के विविध प्रकार

शिरोभूषण : मुकुट[7]—यह माणिक्य निर्मित होता था। यह राजकुल से सम्बन्धित पुरुष एवं स्त्री धारण करते थे। ग्रन्थ में मुकुट के ही

---

१. त्रिषष्टि ७।४।२९०
२. वही, १।२।८०४
३. वही, १।१।७५४
४. वही, ३।१।२०८, २।१।९०, १०।३।९, ४।५।१२१, ८।३।५०२, ५।५।६
५. जे० सी० सिकदर : स्टडीज इन द भगवती सूत्र, रिसर्च इंस्टीच्यूट आफ प्राकृत जैनोलाजी एण्ड अहिंसा, मुजफ्फरपुर १९६४ पृ० २४१
६. महापु०, पूर्वोक्त ६२।२९, ६८।२२५, ६३।४६१
७. त्रिषष्टि १।६।७२४, ४।७।३१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ में किरीट'[1] का भी प्रयोग किया गया है। शिरोरत्न का भी व्यवहार इसी अर्थ में हुआ है।

सीमान्तरत्न[2]—इसे स्त्रियाँ अपने माँग में धारण करती थी। आज भी माँगटीका के रूप में इसका प्रचलन है।

मौलि[3]—डॉ० वी. एस. अग्रवाल के मतानुसार केशों के ऊपर के गोल स्वर्णपट्ट को मौलि संज्ञा प्रदान की गयी है।[4] ग्रन्थ में इसका व्यवहार उपमार्थ किया गया है।

कर्णाभूषण : कुण्डल[5]—यह कान में पहना जाता था। रत्न या मणिजटित होने के कारण कुण्डल के अनेक नाम मिलते हैं जैसे—मणि-कुंडल, रत्नकुण्डल, करणाभरण आदि। महापुराण के अनुसार कुण्डल कपोल तक लटकते थे।[6] यह स्त्री-पुरुष दोनों धारण करते थे।

अवतंस[7]—यह मणिनिर्मित बताया गया है, जो कानों में पहने जाते थे।

ग्रैवेयक[8]—हेमचन्द्र ने इसे गले का आभरण कहा है।

हार[9]—यह गले में पहना जाता था जो वक्षस्थल तक लटकता था।

शशिमयूख[10]—यह हार का ही प्रकार था। ग्रन्थ में एक प्रसंग में धनद द्वारा वासुदेव को शशिमयूख नामक हार देने का उल्लेख है।

---

१. त्रिषष्टि २।६।३०५
२. वही ४।१।३६
३. वही १०।६।१८४
४. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन पूर्वोक्त पृ० २१९
५. त्रिषष्टि ६।८।१७८, ८।३।१७४
६. महापुराण १५।१८९ "रत्नकुण्डलयुग्येन गण्डपर्यन्तचुम्बिना"
७. त्रिषष्टि २।६।४२१
८. वही ३।७।१९
९. वही ३।१।२६९
१०. वही ८।३।१७४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्क[1]—ग्रन्थ में कण्ठाहार के रूप में इसका उल्लेख है।

एकावली[2]—अमरकोश में एकावली को मोतियों की इकहरी माला कहा है। वी. एस. अग्रवाल के अनुसार गुप्तकालीन शिल्प की मूर्तियों और चित्रों में इन्द्रनील की मध्य गुरिया सहित मोतियों की एकावली पायी जाती है। यह घने मोतियों को गूँथकर बनायी जाती थी।[3] यशस्तिलक में उज्ज्वल मोती को मध्य मणि के रूप में लगाकर एकावली बनाने का उल्लेख है।[4]

कराभूषण

अंगद[5]—इसे भुजाओं पर बाँधा जाता था। इसको स्त्री-पुरुष दोनों ही बाँधते थे।

केयूर[6]—स्वर्ण और रजत निर्मित केयूर स्त्री-पुरुष दोनों ही अपनी भुजाओं पर धारण करते थे।

भुजबंध[7]—हाथों में बाँधा जाने वाला भुजबन्ध का उल्लेख ग्रन्थ में कई स्थानों पर हुआ है।

कड़ा[8]—यह हाथी के मूल में पहना जाता था। महापुराण में कड़े के लिए दिव्य कटक शब्द का प्रयोग हुआ है।[9]

अंगूठी[10]—ग्रन्थ में अंगूठी के लिए मुद्रा शब्द व्यवहृत है। यह हाथ की अँगुलियों में पहना जाता था।

---

१. त्रिषष्टि २।४।१२२
२. वही २।१।३०२
३. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन पूर्वोक्त पृ० १०२
४. यशस्तिलक पूर्वोक्त पृ० २८८
५. त्रिशष्टि २।६।१०७
६. वही २।६।२१, २।६।४२६
७. वही १।६।७२४-७३०
८. वही १।६।७२४-७३०, २।२।१३६
९. महापुराण २९।१६७
१०. त्रिषष्टि १।६।७२४-७३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कटि आभूषण

मेखला[१]—यह कटि में धारण किया जाने वाला आभूषण था।

कटिसूत्र[२]—इसे स्त्री-पुरुष दोनों कटि में धारण करते थे।

रसना[३]—यह भी कमर में धारण करने वाला आभूषण था। अमरकोश में मेखला और रसना पर्यायवाची अर्थ में प्रयुक्त हैं। इनको स्त्रियाँ कटि में धारण करती थीं।[४]

पादाभूषण : नुपूर[५]—स्त्रियाँ पैरों में इसे धारण करती थीं।

झांझर[६]—यह भी पैरों में पहना जाने वाला आभूषण था।

पादकटक[७]—भरत द्वारा पहने जाने वाले आभूषणों में पादकटक का उल्लेख हुआ है।

प्रसाधन—हेमचन्द्र ने अधीतव्य ग्रन्थ में प्रसाधन सामग्री तथा उसकी प्रक्रिया दोनों का विस्तार से वर्णन किया है। ग्रन्थ में स्त्री और पुरुष दोनों को प्रसाधन में संलग्न चित्रित किया गया है। इसका उल्लेख निम्नवत् है।

प्रसाधन सामग्री एवं उसका उपयोग

स्नान एवं उससे सम्बन्धित सामग्री—ग्रन्थ के वर्णन प्रसंगों से ज्ञात होता है कि प्रसाधन में स्नान का अत्यधिक महत्व था। तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों एवं विवाह आदि अवसरों पर स्नान का विस्तृत वर्णन किया गया है। स्नान करने के पूर्व सुगन्धित तेल एवं उबटन आदि से अंग मालिश किये जाने का वर्णन प्राप्य है। स्नानो-

---

१. त्रिषष्टि १।२।८२१-२२
२. वही २।४।१२२
३. वही २।६।२१
४. स्त्रीकट्यां मेखला काञ्ची सप्तकी रशना तथा—अमरकोश, ३।६।१०८
५. त्रिषष्टि २।२ ४५८
६. वही १।२।८२२-२३
७. वही १।६।७२९-३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परांत सुगंधित गेरुए अंगोछे से शरीर पोछे जाने का उल्लेख है। उसके बाद रेशमी वस्त्र पहनने का उल्लेख है।[1]

अंगराग—स्नानोपरांत सुगंधित अंगराग के लेप का उल्लेख मिलता है।[2]

तिलक—स्त्री और पुरुष दोनों ही ललाट पर तिलक लगाते थे। पुरुष ललाट पर चन्दन, शेखर, गोरोचन आदि का तिलक लगाते थे। स्त्रियाँ सौभाग्यसूचक लाल रंग की बिन्दी एवं सिन्दूर लगाती थीं।[3]

काजल (अन्जन)—आँखों को सजाने में काजल का उपयोग किया जाता था।[4]

पत्ररचना[5]—ग्रन्थ में ग्रीवाओं, भुजाओं के अग्रभागों, स्तनों व गालों पर पत्र रचना का उल्लेख है।

ताम्बूल—संभवतः इसका प्रयोग स्त्री-पुरुष द्वारा ओष्ठ लाल करने व मुख को सुगन्धित बनाने में किया जाता था।[6]

अलक्तक—यह ओष्ठ पर लगाने वाला रस था। कनकवती ने इसे अपने ओष्ठ पर लगाया था।[7] इसे पैरों में भी लगाया जाता था क्योंकि सुनन्दा एवं सुमंगला ने इसे पैरों में लगाया था।[8]

केश-विन्यास—आलोच्य ग्रन्थ में केश को सुसज्जित करने का उल्लेख है। यह ज्ञात होता है कि स्नानोपरांत केश को दिव्य धूप से सुखाया जाता था। तदुपरांत सुगन्धित तेल आदि द्वारा केशों को

---

१. त्रिषष्टि २।२।४३८, २३।१९८, १।२।७९८, २।१।२००, ४।७।३२७, १।५।३८९-३९०
२. वही २।४।३१, ३।६।१००, २।६।६९२, ६८९
३. वही १।४।५
४. वही १।२।८११
५. वही २।६।४३९
६. वही ३।६।९९, ४।२।१९
७. वही ८।३।१९६
८. वही १।६।४६७, १।२।८०७-८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सँवार कर बाँधा जाता था। पीछे गोलाकार में बंधी हुयी केशवेणियाँ खिले हुए पुष्पों की मालाओं से गूँथकर बांधी जाती थी।[१] कालिदास ने रघुवंश में धूप से सुगन्धित केश को 'धूपवास'[२] और धूपित केश को 'आश्यान'[३] वर्णित किया है। केश को सुगन्धित करने की विधि के लिए मेघदूत में 'केश-संस्कार' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[४]

पुष्प प्रसाधन—सौन्दर्य अभिवृद्धि के लिए अन्य प्रसाधनों के साथ ही पुष्पों का भी प्राचीन काल में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। विविध प्रकार के पुष्पों एवं उनके पल्लवों से निर्मित आभूषणों का प्रचलन हेमचन्द्र ने भी यत्र तत्र किया है और कई स्थलों पर तो ग्रन्थकार ने रत्ननिर्मित आभूषणों की तुलना पुष्प निर्मित आभूषणों से की है। विवाह आदि अवसरों पर पुष्पमाला बनाये जाने का उल्लेख मिलता है। केश को सजाने में भी पुष्पों का उल्लेख आया है। वसन्तोत्सव के प्रसंग में कई प्रकार के पुष्पों की मालायें, आभूषण आदि बनाने का उल्लेख हेमचन्द्र ने किया है।[५]

मनोविनोद—प्राचीन काल से भारतीय समाज में मनोविनोद का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रारम्भ में नृत्य, संगीत और मल्ल युद्ध आदि मनोविनोद के रूप में प्रचलित हुए। कालान्तर में उद्यान-यात्रा, जल-क्रीड़ा, नाटक, कथा, कहानी आदि, मृगया, कन्दुक क्रीड़ा, इन्द्रजाल, द्यूत क्रीड़ा आदि का विकास हुआ। डॉ० रामजी उपाध्याय के अनुसार इन सभी मनोविनोद में नाटकों को सभ्य समाज में सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।[६]

जैन पुराणकारों ने भी मनोविनोद के विविध प्रकारों का उल्लेख किया है लेकिन उसकी सात्विकता पर बल देते हुए आवश्यकता से

---

१. त्रिषष्टि १।१।८०३-८०५, ८१२
२. रघुवंश कालिदास, सं० एच० डी० वेलणकर, बम्बई १९४८ पृ० १६।५०
३. वही १७।२२
४. मेघदूत, चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी १९४० पृ० १।३२
५. त्रिषष्टि १।२।८९, १।२।९८५-१०१६
६. डॉ० रामजी उपाध्याय : भारत की प्राचीन संस्कृति, पृ० १०९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिक मनोविनोद में लिप्त होना वर्जित बताया है।[1] हेमचन्द्र ने भी आलोच्य ग्रन्थ में मनोविनोद विषयक विविध सामग्री का उल्लेख किया है जिसका विवेचन निम्नवत् है—

नाटक—हेमचन्द्र ने अनेक स्थलों पर नाटक का उल्लेख किया है। ग्रन्थ के एक प्रसंग में राजा भरत द्वारा नाटक देखने का उल्लेख है। अन्य प्रसंगों में भी बहुविध नाटकों का उल्लेख है।[2]

संगीत—हेमचन्द्र ने संगीत स्थल के लिए 'विलासमण्डप' का उल्लेख किया है। संगीत कला के अन्तर्गत विविध प्रकार के वाद्य-वेणु, वीणा, मृदंग, प्रणव आदि तथा विविध भाव-भंगिमाओं से युक्त नृत्य का उल्लेख है। ग्रन्थ में विविध अवसरों पर आयोजित नृत्य संगीत का उल्लेख मिलता है। एक अवसर पर आदि तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा नृत्य संगीत देखने सुनने का वर्णन है। एक अन्य स्थल पर महाराजा भरत द्वारा विलासमण्डप में संगीत का आनन्द लेने का प्रसंग मिलता है। ग्रन्थ में ऋषभदेव के विवाह के उपरान्त लग्नोत्सव से आनंदित इन्द्र को इन्द्राणियों सहित नृत्य में संलग्न दर्शाया गया है।[3]

गीत[4]—गीत का आयोजन पुत्र जन्मोत्सव, विवाहोत्सव आदि अवसरों पर होता था। ग्रन्थ में तीर्थंकरों के जन्मोत्सव पर दिक्कुमारियों द्वारा मांगलिक गीत गाये जाने का उल्लेख मिलता है। विवाह के अवसर पर मंगल गीत के साथ ही परिहास वाले गीत गाये जाने का प्रसंग मिलता है। ग्रन्थ में मधुर और मंगलमय गायनों के साथ विविध स्रोतों से जिनेश्वर की स्तुति किया जाने का उल्लेख मिलता है।

क्रीड़ा

उद्यान क्रीड़ा—ग्रन्थ में वर्णित प्रसंगों से ज्ञात होता है कि नगर

---

१. महापुराण ३६।७६

२. त्रिषष्टि १।६।७०६-७०७, ४-४-८, २।३।३१

३. वही ३।१।७३, २।६।२४१, २।२।४४९, १।६।७१०, २।२।४४७, २।६।२४१

४. वही १।२।८५३-५४, १।२।८७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के समीप मनोहारी उपवन होते थे जहाँ वसन्त ऋतु के आगमन पर राज परिवार एवं नगरवासियों द्वारा विविध क्रीड़ाओं द्वारा आनंदोत्सव मनाया जाता था। विविध प्रकार के पुष्पों से आच्छादित इन उपवनों में कुछ लोग पुष्प गृहों में बैठकर आनन्दित होते थे, कुछ लोग उन्मत्त भौरों की आवाज से आनन्दित होते थे, कुछ स्त्री-पुरुष झूला झूलते थे, कुछ स्त्रियाँ अशोक और बकुल के पेड़ों से आलिंग बद्ध होकर अपने मुख का आसव पिलाती थीं, कुछ स्त्रियाँ पुष्पचयन करती थीं, कुछ पुरुष पुष्पचयन कर अपनी प्रेमिका के लिए पुष्पमाला और अन्य आभूषण तैयार करते थे। कुछ स्त्री-पुरुष फूलों को गेंद की तरह एक दूसरे पर फेंकते थे। इस तरह राजा एवं राजपरिवार तथा नगरवासी भिन्न-भिन्न क्रीड़ाओं में संलग्न होकर आनन्दित होते थे।[1]

जलक्रीड़ा—हेमचन्द्र ने उपवन के समीप ही क्रीड़ावापी का उल्लेख किया है जहाँ राजपुरुष अपने स्त्री वर्ग के साथ जल क्रीड़ा करते थे। आलोच्य ग्रन्थ राजपुरुषों से सम्बन्धित होने के कारण राजपुरुषों की ही जल क्रीड़ा का वर्णन उपलब्ध है। ग्रन्थ में राजा भरत का सुन्दरियों के साथ जल क्रीड़ा का वर्णन मिलता है। इस जल क्रीड़ा में राजा भरत के शरीर पर सुन्दरियों द्वारा जल सिंचन का उल्लेख किया गया है।[2] जैन पुराणों में भी जल क्रीड़ा के अन्तर्गत प्रेयसियों को खींचकर पकड़ना, उनका शारीरिक स्पर्श करना, पिचकारी से उनके मुख को सुगन्धित जल से सिंचित करना एवं जल में आभूषण का ढूँढना आदि निर्दिष्ट है।[3]

युद्ध क्रीड़ा—इसके अन्तर्गत भैंसों का युद्ध तथा मल्लयुद्ध निर्दिष्ट है। ग्रन्थ के वर्णन प्रसंगों में देवताओं द्वारा बड़े भैंसों का रूप धारण कर परस्पर लड़ने का उल्लेख है और इसके अतिरिक्त उनके द्वारा पहलवानों का रूप धारण कर अपनी भुजाओं को ठोंकते हुए एक दूसरे को अखाड़े में उतरने के लिए ललकारने का उल्लेख है।

---

१. त्रिषष्टि १।२, ९८५-१०१६

२. वही १।६।६९८-७००

३. महापुराण ८।२२-२८; पद्मपुराण ८।९०-१००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निःसन्देह यह युद्धक्रीड़ा तत्कालीन मनोविनोद का साधन रही होगी क्योंकि ग्रन्थ में देवताओं द्वारा प्रदर्शित उक्त क्रीड़ाओं द्वारा ऋषभदेव के आनन्दित होने का उल्लेख है।[1]

द्यूत क्रीड़ा[2]—हेमचन्द्र ने राजाओं को द्यूत क्रीड़ा में संलग्न दिखाया है। यह उस समय मनोरञ्जनार्थ खेला जाता था। ऋग्वेद में भी इस क्रीड़ा का उल्लेख है।[3] महाभारत में इसी क्रीड़ा के फलस्वरूप पाण्डवों को निर्वासित जीवन व्यतीत करना पड़ा।[4] मनु ने भी द्यूत-क्रीड़ा को राजा के लिए निषिद्ध कर्म कहा है।[5] कामसूत्र में द्यूत फलक का उल्लेख है।[6] निशीथचूर्णी में द्यूत के खिलाड़ियों को द्यूतकार कहा गया है।[7] मानसोल्लास में इस क्रीड़ा का विस्तृत वर्णन प्राप्य है।[8] अतः यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से ही द्यूत क्रीड़ा का प्रचलन था, जो हेमचन्द्र के काल में विद्यमान था।

इन्द्रजाल—प्राचीन काल से ही लोगों के मनोरंजनार्थ अलौकिक सिद्धियों द्वारा इन्द्रजाल का प्रचलन था। वैदिक साहित्य में शब्दशक्ति, विज्ञान और हस्तकौशल से अलौकिक और चमत्कारपूर्ण कार्य करने का उल्लेख है। हेमचन्द्र ने भी इन्द्रजाल के जानकार ऐन्द्रजालिकों का उल्लेख अनेक प्रसंगों में किया है।[9]

---

१. त्रिषष्टि १।२।६६०-६८२

२. वही १।२।७८-७९

३. ऋग्वेद १०।३४।८ कृष्णदास अकादमी वाराणसी १९८३

४. महाभारत : सभापर्व, सं० बी० एस० सुकथंकर, भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट पूना १९२७-३३

५. मनुस्मृति ९।२१ चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी १९७९

६. शिवशेखर मिश्र : सोमेश्वर कृत मानसोल्लास एक सांस्कृतिक अध्ययन वाराणसी १९६६ उद्धृत पृ० ४९७।९८

७. निशीथचूर्णि ३, पृ० ५२७, ३८०, २, पृ० २६२

८. सोमेश्वरकृत मानसोल्लास पूर्वोक्त ५।१३।७०१

९. त्रिषष्टि २।६।३६६-३७४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिशुओं से सम्बन्धित मनोविनोद—प्राचीन काल से ही शिशुओं के मनोविनोद सम्बन्धी सामग्री की सूचना मिलती है। उत्खनन में प्राप्त खिलौने शिशुओं की विनोदप्रियता के सूचक हैं। हेमचन्द्र ने भी अधीतव्य ग्रन्थ में कन्दुक क्रीड़ा[1] एवं खिलौनों[2] का उल्लेख किया है। ये शिशुओं के मनोविनोद के साधन के रूप में उल्लित किए गए हैं।

---

१. त्रिषष्टि १।२।६७१-७३

२. वही १।२।१०३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

STATEMENT ABOUT OWNERSHIP & OTHER PARTICULAR OF THE PAPER

SHRAMANA

1. Place of Publication	:	Pujya Sohanlal Smarak Parshvanath Shodhpith I. T. I. Road, Varanasi--5
2. Periodicity of Publication	:	First week of English calendar month.
3. Printer's Name, Nationality and Address	:	Dr. Sagar Mal Jain Indian Divine Printers B. 13/44, Sonarpura, Varanasi
4. Publisher's Name, Nationality and Address	:	Dr. Sagar Mal Jain Indian Pujya Sohanlal Smarak Parshvanath Shodhpith I. T. I. Road, Varanasi-5
5. Editor's Name, Nationality and Address	:	Same
6. Names and Address of individuals who own the Paper and Partners or share-holders holding more than one per cent of the total capital.	:	Shri Sohanlal Smarak Parshvanath Shodhpith Guru Bazar, Amritsar (Registered under Act XXI as 1860).

I, Dr. Sagar Mal Jain hereby declare that the particular given above are true to the best of the knowledge and believe.

Dated 1-4-1992

Signature of the Publishers

S/d Dr. Sagar Mal Jain

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण

अप्रैल-जून १९९२ रजि० नं० एल० ३९ फोन : ३११४६

transform plastic ideas
into beautiful shape

NUCHEM MOULDS & DIES

Our high-precision moulds and dies are designed to give your moulded product clean, flawless lines. Fully tested to give instant production the moulds are made of special alloy steel, hard-chrome-plated for a better finish.

Get in touch with us for information on compression, injection or transfer moulds. Send a drawing or a sample of your design. If required we can undertake jobs right from the designing stage.

Write to :

Nuchem PLASTICS LTD.
Engineering Division 20/6, Mathura Road, Faridabad (Haryana)

Edited and Published by Prof. Sagar Mal Jain, Director,
Pujya Sohanlal Smarak Parshvanath Shodhpeeth,
Varanasi-221005
Printed by Divine Printers, Sonarpura, Varanasi-221001

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org